जैन विद्या

भाग-1

निर्देशन
आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती

आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
लाडनूं-341306
जिला : डीडवाना-कुचामन (राजस्थान) (भारत)
फोन नं. : 91-8742004849
ई-मेल : books@jvbharati.org
द्वारा प्रकाशित

भाषा – हिन्दी

कॉपीराइट – जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण – अप्रैल 2026

इस प्रकाशन का कोई भी भाग प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी रूप में
इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो कॉपी, रिकॉर्डिंग या अन्य किसी भी माध्यम से न तो
पुनर्मुद्रित किया जा सकता है न संग्रहित किया जा सकता है और न प्रसारित किया जा सकता है।

मुद्रित एवं बाइंडिंग – श्री वर्धमान प्रिंट एण्ड पैक, गाजियाबाद (दिल्ली एन.सी.आर)

अधिकतम खुदरा मूल्य – 200/- (दो सौ रुपये मात्र)

जैन विद्या भाग - 1
निर्देशन : आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

जैन विद्या पाठ्यक्रम का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया है कि यह मानव जीवन के समग्र विकास में सहायक बने और जैन संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए। जैन विद्या न केवल जीवन निर्माण का आधार है, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिकता, अनुशासन, आत्मसंयम और आध्यात्मिक उन्नति की दिशा में प्रेरित करती है।

इस पाठ्यक्रम का विशेष सौभाग्य है कि इसका निर्माण परम पूज्य आचार्य श्री महाश्रमण के प्रेरणाप्रद निर्देशन में संपन्न हुआ है। उनके मार्गदर्शन ने इस पाठ्यक्रम को गहन आध्यात्मिकता, व्यवहारिकता और मूल्यपरक दृष्टि प्रदान की है, जिससे यह और अधिक प्रभावी एवं उपयोगी बन सका है।

इस पाठ्यक्रम के माध्यम से जैन धर्म के इतिहास, संस्कृति तथा आध्यात्मिक परंपराओं का सुव्यवस्थित और सरल परिचय प्राप्त होता है। इसमें तत्व दर्शन, मंत्र, स्तुति, जैन सिद्धांतों के मौलिक आधार तथा अन्य अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन किया गया है। साथ ही, जीवन शैली पर आधारित प्रेरणादायक कथाओं को भी सम्मिलित किया गया है, जो विशेष रूप से बालकों में संस्कार निर्माण तथा चरित्र विकास के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

यह पाठ्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि बालक, युवा तथा वृद्ध-सभी आयु वर्ग के लोग इसमें सहजता से भाग ले सकें और अपने जीवन को अधिक सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण बना सकें। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पाठ्यक्रम जैन विद्या के प्रसार के साथ-साथ समाज में नैतिक मूल्यों के जागरण का भी प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

टी. अमरचन्द लुंकड़
अध्यक्ष
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

1.	नमस्कार महामंत्र	1
2.	वंदन पाठ	7
3.	सामायिक	12
4.	मंगलपाठ	20
5.	सम्यक्त्व दीक्षा : देव, गुरु, धर्म	23
6.	जैन धर्म	28
7.	श्रमण भगवान महावीर	37
8.	तेरापंथ	47
9.	आचार्य भिक्षु	55
10.	आचार्य महाश्रमण	59

पाठ-1 नमस्कार महामंत्र

✲ मूलपाठ-शब्दार्थ

णमो अरहंताणं–मैं अर्हतों को नमस्कार करता हूं।

णमो सिद्धाणं–मैं सिद्धों को नमस्कार करता हूं।

णमो आयरियाणं–मैं आचार्यों को नमस्कार करता हूं।

णमो उवज्झायाणं–मैं उपाध्यायों को नमस्कार करता हूं।

णमो लोए सव्व साहूणं–मैं लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार करता हूं।

एसो पंच णमोक्कारो– यह पांच पदों वाला नमस्कार महामंत्र

सव्व पावपणासणो– सब पापों का नाश करने वाला है

मंगलाणं च सव्वेसिं– सभी मंगलों में

पढमं हवइ मंगलं–प्रथम मंगल है।

✲ विवेचन

नमस्कार महामंत्र मंत्र-शृंखला का विशिष्ट मंत्र ही नहीं, महामंत्र है। भगवई, आवस्सयं आदि आगमों में इसका वर्णन प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने परम आत्मा की पांच कक्षाएं निर्धारित की–

1. अर्हत्-धर्मतीर्थ के प्रवर्तक
2. सिद्ध-मुक्त आत्मा
3. आचार्य-धर्म-तीर्थ के संचालक
4. उपाध्याय-धर्म-ज्ञान के संवाहक
5. साधु-धर्म के साधक

इनमें चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माएं हैं। इनमें पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु

(कारण) नहीं है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं। इसलिए नमस्कार महामंत्र में प्रथम स्थान उनको मिला।

जैन धर्म-दर्शन व्यक्ति विशेष की पूजा को मान्यता नहीं देता। वह गुण का पुजारी है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अर्हताओं-योग्यताओं को मान्य कर उसकी पूजा करता है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य है- नमस्कार महामंत्र और मंगलपाठ। इसमें किसी भी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख नहीं है।

जैनधर्म के सभी संप्रदायों में नमस्कार महामंत्र की समान रूप से आराधना की जाती है। यह इसकी प्राचीनता का हेतु है। शास्त्रकारों ने नमस्कार महामंत्र की व्याख्या करते हुए कहा–

एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावपणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

यह महामंत्र सब पापों का नाश करने वाला और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है।

यह मंगल की स्मृति का महामंत्र है। मंगल भावना और मैत्री भावना जीवन की महान उपलब्धि है। व्यक्ति स्वस्थ रहे, सुखी रहे, आनंदमय रहे और विकास करता रहे–ये उदात्त भावनाएं जीवन के मंगल की सूचक है।

इस महामंत्र का अनेक शास्त्रों व ग्रंथों में आदि मंगल के रूप में उपयोग किया गया। लगभग डेढ़ हजार वर्षों की अवधि में इस महामंत्र पर विपुल साहित्य रचा गया। इसकी स्तुति में अनेक काव्यों का निर्माण हुआ। इस महामंत्र के सहारे अनेकानेक मंत्र विकसित हुए। नमस्कार महामंत्र से जुड़ा एक मंत्र है–'अर्हम्'। एक मंत्र है 'अ सि आ उ सा' यह जयाचार्य का बड़ा प्रिय मंत्र रहा है। यह पांचों पदों के आदि अक्षर से निष्पन्न (अ, सि, आ, उ, सा) पंचाक्षरी मंत्र है। नमस्कार महामंत्र से बना एक मंत्र है 'ऊँ'। जैन आचार्यों ने ऊँ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है–अर्हत्, अशरीरी (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि इनके आद्यक्षर से निष्पन्न होता है 'ऊँ'। अर्हत् का 'अ', अशरीरी का 'अ', अ + अ = आ, आचार्य का 'आ', आ + आ = आ, उपाध्याय का 'उ', आ + उ = ओ और मुनि का 'म्' ओ + म् = ओम् (ऊँ)।

इस प्रकार नमस्कार महामंत्र की आराधना भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में की गई। इस महामंत्र में अनंत शक्ति है। यह आत्मजागरणा का महामंत्र है। शक्ति जागरणा का महामंत्र है। इसमें पांच पद और पैंतीस अक्षर हैं। प्रथम पद में 7, द्वितीय पद में 5, तृतीय पद में 7, चतुर्थ पद में 7 और पंचम पद में 9 अक्षर है। इसके प्रत्येक अक्षर की सूक्ष्म ध्वनि तरंगें शांति के आभावलय का निर्माण करती है।

इस महामंत्र में श्रुतसागर की गहराई छिपी हुई है। कहा गया है–नमस्कार महामंत्र चौदह पूर्वों का सार है। विश्व की सारी शाब्दिक विशिष्टता व संपूर्ण ज्ञान राशि चौदह पूर्वों में समा जाती है। इसलिए यह मंत्र नहीं, महामंत्र है।

नमस्कार महामंत्र की आराधना महान साधना है। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु– इन पंच परमेष्ठी की आराधना, आत्मा की आराधना है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, आनंद और शक्ति की

आराधना। इन चारों से अतिरिक्त इस विश्व में आध्यात्मिक दृष्टि से न कोई साधना-आराधना है और न ही कोई मंगल। नमस्कार महामंत्र की सम्यक् आराधना प्रशस्त जीवन का सूत्र है। इससे अव्याबाध सुख और शांति का अनुभव होता है।

नमस्कार महामंत्र प्रत्येक पद

नमस्कार महामंत्र में हम अर्हत् को नमस्कार करते हैं, सिद्धों को नमस्कार करते हैं, अध्यात्म यात्रा के महान संवाहक आचार्य को नमस्कार करते हैं, समूचे श्रुतसागर का मंथन करने वाले उपाध्याय को नमस्कार करते हैं और समूचे लोक में विद्यमान अध्यात्म साधकों को नमस्कार करते हैं। यह वंदन-नमस्कार की बहुत ही पवित्र पदावली है।

'**णमो**'

मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से 'णमो' शोधन बीज है। यह शुद्धि करता है जो आवेग या आवेश आते हैं, उन्हें दूर करता है। उन वृत्तियों की शुद्धि में सहयोग देता है।

1. '**णमो अरहंताणं**'

यह सप्ताक्षरी मंत्र पद है। इस पद में अर्हत् को नमस्कार किया गया है क्योंकि वे हमारे आदर्श हैं, अध्यात्म के क्षेत्र में हमारे लिए सर्वोच्च प्रमाण हैं। जैन दर्शन में प्रमाण की एक कसौटी बतलाई गई–जिनका राग-द्वेष और अज्ञान नष्ट हो जाता है, वह प्रमाण पुरुष है। अर्हत् वीतराग होते हैं, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उनका सिद्धांत अबाध्य होता है इसलिए वे हमारे आदर्श हैं।

❊ लाभ

अर्हत् का मंत्र हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने वाला होता है, इससे ज्ञान की सोई हुई शक्तियां जागृत होती है।

2. '**णमो सिद्धाणं**'

नमस्कार महामंत्र का दूसरा पद है–'णमो सिद्धाणं'। जैन दर्शन में ईश्वर का नाम है–सिद्ध। ईश्वर की एक परिभाषा की जाती है जो ईश्वर है वह सब कुछ करने में समर्थ है। जैन दर्शन का ईश्वर इससे भिन्न है। वह सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं, मात्र ज्ञाता और द्रष्टा होता है। तीनों लोक उसके ज्ञान के विषय बनते हैं। वह किसी के भाग्य का विधाता नहीं है और न ही किसी के साथ न्याय या अन्याय करने वाला न्यायाधीश। वह समदर्शी होता है। जितनी आत्माएं अपनी साधना के द्वारा शरीर मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो मोक्ष में जा पहुंचती है, वे सब आत्माएं ईश्वर हैं। इस दृष्टि से जैन दर्शन में ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं, अनंत हैं। ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर आदि जो नाम है उसे जैन दर्शन में सिद्ध कहते हैं। सिद्ध का स्वरूप बताते हुए कहा गया–जो जन्म और मरण से मुक्त, दुःख और दारिद्रय से रहित, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतशक्ति और अनंतआनंद से सम्पन्न, अजर, अमर और अमूर्त्त आत्मा है, वह सिद्ध है। अर्हत् और सिद्ध दोनों परमात्मा हैं–एक शरीरधारी और दूसरा शरीरमुक्त।

*** लाभ**

सिद्ध का मंत्र शक्तिशाली है। यह सिद्धि और शक्ति देने वाला है। हमारी आन्तरिक दृष्टि को जागृत करने वाला है।

3. 'णमो आयरियाणं'

जीवन नैया के तारणहार आचार्यप्रवर को मेरा वंदन। यह वंदन का बहुत ही सुंदर स्वर है। कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही गई कि आप मेरी जीवन नौका को तारने वाले हैं। इसे इस संसार-समुद्र से पार पहुंचाने वाले हैं। एक कुशल नाविक के बिना समस्याओं के समुद्र से पार पहुंचना आसान नहीं। व्यक्ति बीच में भी डूब सकता है। इसलिए आचार्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनका दायित्व विशिष्ट है।

स्वयं आचार निष्ठ होना और दूसरों में आचार की निष्ठा पैदा करना, यह दोनों उनका दायित्व है। एक मुनि के लिए यह अनिवार्य नहीं। आचार का स्वयं सम्यक् पालन करना उसके लिए अनिवार्य होता है पर पालन करवाना उसका अनिवार्य दायित्व नहीं। आचार्य अपने दायित्वों के प्रति बड़े सजग होते हैं। वे स्वयं सूत्रधर होते हैं और दूसरों को सूत्रधर बनाते हैं। उन्हें सूत्र और अर्थ का सम्यक् अनुशीलन कराते हैं। आचार्य स्वयं तपस्वी होते हैं और संघ को भी तप के लिए प्रेरित करते हैं। तपस्या का अर्थ केवल उपवास आदि ही नहीं सेवा, विनय, स्वाध्याय, ध्यान आदि भी तपस्या के साधन हैं।

आचार्य जिनशासन के प्रति अटूट निष्ठाशील होते हैं। वे हजारों-लाखों लोगों की श्रद्धा को, विचारधारा को स्थिर बनाए रखते हैं। दूसरों के विचारों को स्थिर बनाए रखना कठिन तो जरूर है पर यह तेरापंथ धर्मसंघ की विशिष्टता रही है कि इसके आचार्य एक आचार और एक विचार की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाए हुए हैं। आचार्य छत्तीस गुणों से सम्पन्न तीर्थंकर के प्रतिनिधि होते हैं। इस शक्तिशाली पद की वंदना का स्वर है–'णमो आयरियाणं'।

*** लाभ**

इस मंत्र पद की आराधना से हमारी वृत्तियां शांत होती है, पवित्रता की संवृद्धि होती है और मन पवित्र, निर्मल होता है।

4. 'णमो उवज्झायाणं'

गीता में कहा गया–'अध्यात्म विद्या विद्यानां' सभी विद्याओं में अध्यात्म विद्या श्रेष्ठ है। जैन परम्परा में उपाध्याय अध्यात्म विद्या के महान संवाहक होते हैं। वे ज्ञान की परम्परा को विकसित बनाए रखते हैं। अध्ययन और अध्यापन में कुशल होते हैं। सैकड़ों-सैकड़ों ग्रन्थ उनकी प्रखर स्मृति में सुरक्षित होते हैं।

जैन परम्परा में आचार्य और उपाध्याय दो पद रहे है। कभी-कभी ये दोनों पद एक ही व्यक्ति में समाविष्ट हो जाते हैं और कभी-कभी इन दोनों का दायित्व अलग-अलग व्यक्ति पर होता है। तेरापंथ धर्मसंघ की परम्परा में आचार्य ही उपाध्याय का कार्य संपादित करते हैं।

*** लाभ**

इस मंत्र पद की आराधना से कषाय शांत होते है, समाधि तथा एकाग्रता पैदा होने पर यह मंत्र हमें आत्म-साक्षात्कार में सहयोग देता है।

5. 'णमो लोए सव्वसाहूणं'

इस पद में समूचे लोक में विद्यमान साधुओं को नमस्कार किया गया है। साधु कैसा हो, इसका वर्णन करते हुए बताया गया–

* जो अनगार हो, जिसके अगार–घर नहीं, वह साधु है।

* जो निर्ग्रंथ हो, जिसके कोई ग्रंथि नहीं, गांठ नहीं, वह साधु है।

* जो यति हो, इन्द्रियों के स्तर पर नहीं जीने वाला व्यक्ति, उपरति-विरति का जीवन जीने वाला हो, वह साधु है।

* जो मुनि हो, आत्मज ज्ञानी हो, वह साधु है।

* जो साधनाशील हो, मन, वचन और काया को साध लेता हो, वह साधु है।

* जो श्रमण हो, तपस्वी, श्रमशील व पुरुषार्थी हो, वह साधु है।

*** लाभ**

इस मंत्र पद की आराधना से विजातीय तत्त्वों का प्रभाव निष्प्रभाव होता है तथा सहनशीलता का विकास होता है।

*** कथा बोध**

श्रावस्ती नगरी का एक राजा था। उसने अपने राजपुरुषों को आदेश दिया कि सात मंजिल का प्रासाद बनाओ। राजा के आदेश से सुन्दर, सुमंडित भवन का निर्माण कर राजपुरुषों ने कहा–राजन्! सुंदर सुघटित, सुसज्जित भवन तैयार है, परन्तु तैयार होते ही भवन गिर जाता है। राजा ने अष्ट नैमित्तिक को बुलाकर सारी घटना का खेदपूर्वक जिक्र किया। ज्योतिषी ने शीघ्र ही गणित फलित कर कहा–'नृपति! अगर बत्तीस लक्षण वाले पुरुष का यज्ञ कराओ तो यह कार्य सिद्ध हो जाएगा। राजा ने नगर में घोषणा करवाई। जो अपने पुत्र को होम के लिए देगा, उसे पुत्र के बराबर सोना मिलेगा।

उत्कंठित भद्रा नाम की महिला ने अपने आठ पुत्रों में अपने कनिष्ठ पुत्र को राजा के समक्ष समर्पित कर दिया। सर्वगुण-संयुक्त, रूप सम्पन्न, विनयशील, विवेकवान, सर्वांग-सुन्दर भद्रा के अंगजात को देखकर राजा बहुत खुश हुआ। राजा ने भद्रा को बहुत लक्ष्मी दी। अमरकुमार का म्लान मुख देख व्यग्र हो रानी ने कहा–बेटे! डरो मत, धैर्य रखो। आपत्तिकाल में अपना भी दूसरा हो जाता है, इस विषम परिस्थिति में आर्त्तध्यान छोड़ महामंत्र का जप करो।

अमरकुमार ने कहा–मां! महामंत्र मैं जानता हूं। मैंने अपने गुरुजी के पास इसकी साधना कर रखी है। महामंत्र का स्मरण करता हुआ अमरकुमार अग्नि में प्रविष्ट हो गया। तत्काल अग्नि पानी हो गई। मंत्र के प्रभाव की बात सारे शहर में फैल गई। भद्रा को पता लगा। भद्रा भी वहां पहुंच

गई। मंत्र के प्रभाव को देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने अमरकुमार को बाहों में उठाया और अनुरोध किया–बेटे! मेरे घर पुत्र रूप में रहो। अमरकुमार ने कोमल शब्दों में सविनय हाथ जोड़कर कहा–राजा! धर्म ही सब सुखों का मूल है। मेरे हृदय में ज्ञानदीप प्रज्वलित हो गया, जिसके प्रभाव से मैं जीवित हूं। अब मैं उसी की शरण ग्रहण करूंगा।

✲ परमेष्ठी वंदना

वन्दना आनन्द पुलकित, विनयनत हो मैं करूं।
एक लय हो, एक रस हो, भाव तन्मयता वरूं।।

1. **सहज निज आलोक से भासित स्वयं संबुद्ध हैं।**
धर्म तीर्थंकर शुभंकर, वीतराग विशुद्ध हैं।
गति-प्रतिष्ठा, त्राण-दाता, आवरण से मुक्त हैं।
देव अर्हन् दिव्य योगज, अतिशयों से युक्त हैं।।

2. **बंधनों की शृंखला से, मुक्त शक्ति-स्रोत हैं।**
सहज निर्मल आत्मलय में सतत ओतःप्रोत हैं।
दग्ध कर भव बीज अंकुर, अरुज, अज, अविकार हैं।
सिद्ध परमात्मा परम, ईश्वर अपुनरवतार हैं।।

3. **अमलतम आचार धारा में स्वयं निष्णात हैं।**
दीप सम शत दीप दीपन के लिए प्रख्यात हैं।
धर्म-शासन के धुरंधर, धीर धर्माचार्य हैं।
प्रथम पद के प्रवर-प्रतिनिधि, प्रगति में अनिवार्य हैं।।

4. **द्वादशांगी के प्रवक्ता, ज्ञान गरिमा पुंज हैं।**
साधना के शांत उपवन में सुरम्य निकुंज हैं।
सूत्र के स्वाध्याय में संलग्न रहते हैं सदा।
उपाध्याय महान श्रुतधर, धर्म-शासन संपदा।।

5. **सदा लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में मध्यस्थ हैं।**
शांतिमय, वैराग्यमय, आनंदमय आत्मस्थ हैं।
वासना से विरत आकृति, सहज परम प्रसन्न हैं।
साधना धन साधु अन्तर्भाव में आसन्न हैं।।

✲ क्या आप जानते हैं?

✲ हमें नमस्कार महामंत्र पौद्गलिक सुख के लिए अथवा मान, प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान एवं यश कामना के लिए नहीं, अपितु आत्मा की विशुद्धि करने के लिए, कर्म-मल को दूर करने के लिए करना चाहिए।

✲ यतनापूर्वक, तन्मयता से किया गया नमस्कार महामंत्र का जप करोड़ों भवों के कर्म क्षीण करता है।

पाठ-2 वंदन पाठ

*** मूल पाठ**

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

शब्दार्थ

तिक्खुत्तो–तीन बार

आयाहिणं–दाई (Right) से बांई (Left) ओर

पयाहिणं–प्रदक्षिणा

करेमि–करता हूं।

वंदामि–वंदना करता हूं।

नमंसामि–नमस्कार करता हूं।

सक्कारेमि–सत्कार करता हूं।

सम्माणेमि–सम्मान करता हूं।

कल्लाणं–आप कल्याणकारी हैं।

मंगलं–आप मंगलकारी है।

देवयं–आप धर्मदेव हैं।

चेइयं–आप ज्ञानवान् है।

पज्जुवासामि–(मैं आपकी) पर्युपासना-सेवा करता हूं।

मत्थएण –मस्तक झुकाकर

वंदामि–वंदना करता हूं।

❊ वंदन-विधि

वंदना करते समय खड़े-खड़े दोनों हाथों को जोड़कर दांई ओर से प्रारंभ कर ('तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि' का पाठ मन ही मन उच्चारण कर) तीन बार प्रदक्षिणा दे। (इसमें खड़े होकर, हाथ जोड़ते हुए नाभि से मस्तक तक तीन बार घूमाने की विधि है।) उसके बाद वंदन मुद्रा में बैठकर "वंदामि नमंसामि" से लेकर "पज्जुवासामि' तक पूरे पाठ का स्पष्ट उच्चारण करें। फिर "मत्थएण वंदामि" पाठ बोलते समय श्वास भरें और उसे छोड़ते हुए मस्तक को जमीन तक झुकाएं। इस प्रकार तीन बार उठ-बैठकर वंदना करनी चाहिए। उसके पश्चात् खड़े होकर बोलें–वंदे गुरुवरम्! तथा साधु-साध्वी हो तो मत्थएण वंदामि! हाथ जोड़कर अर्ज करूं, आपके तनुरत्न में सुखसाता है। तनु अर्थात् शरीर, रत्न अर्थात् रत्नत्रय-ज्ञान, दर्शन-चारित्र।

❊ गुरु वन्दन-विधि

यह गुरु को वंदना करने की विधि है। गुरु को वंदना करते समय नम्र होना चाहिए। नम्रता अहंकार की प्रतिपक्षिणी है। नम्रता से गुरु के गुणों के प्रति ध्यान आकृष्ट होता है और उनका अनुसरण करने की भावना प्रबल हो उठती है। विनय एक महान गुण है, उसका संबंध मन, वचन और शरीर–इन तीनों से है। अतएव वंदन-सूत्र में इन तीनों को सरल करने का विधान है।

तीन बार दाहिनी ओर से दोनों हाथों को जोड़कर प्रदक्षिणा करना, यह शरीर की नम्रता है।

गुरुदेव! मैं आपको वंदन करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ, यह वाचिक विनय है।

गुरुदेव! आप कल्याणकारी हैं–श्रेयस् के साधन है। मंगल है, यह मानसिक विनय है।

गणधर गौतम ने भगवान से पूछा–भंते! वंदना करने से जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान ने कहा–गौतम! वंदना से जीव नीच कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है। उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले कर्मों का अर्जन करता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त करता है अर्थात् सैद्धान्तिक दृष्टि से इससे दो कार्य निष्पन्न होते है। नीच गोत्र का क्षय निर्जरा है तथा उच्च गोत्र का बंध पुण्य कर्म का बंध है। वंदना का मुख्य फल है–निर्जरा तथा प्रासंगिक फल है–पुण्य कर्म का बंध। इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जहां-जहां शुभ प्रवृत्ति है वहां-वहां निर्जरा है। एक भी शुभप्रवृत्ति ऐसी नहीं है जिससे केवल पुण्य कर्म का बंध हो और निर्जरा न हो। पुण्य का बंध निर्जरा का सहचारी कार्य है।

प्रश्न होता है, वंदनीय कौन? आवश्यक निर्युक्तिकार में कहा है जो मुनि पंच महाव्रतों से युक्त होते हैं, वे वंदनीय होते हैं। असंयती वंदनीय नहीं होता।

वंदना की छह निष्पत्तियां बताई गई हैं–1. विनय की आराधना 2. नम्रता का विकास, अहंकार का नाश 3. गुरुजनों की पूजा 4. तीर्थंकर देव की आज्ञा का पालन 5. श्रुतधर्म की आराधना 6. मोक्ष की प्राप्ति। इसके अनुसार चलकर साधक अपने जीवन को नम्र और आदर्श बनाता है।

❊ कथा बोध

मथुरा के नगर सेठ विश्ववाहन का गृह नौकर अंगभान बहुत परिश्रमी था। सुबह से शाम तक वह काम में लगा रहता था। सुबह एक दिन तपस्वी मुनि विद्याचरण सेठ के घर गोचरी पधारे। परिवार के सभी सदस्य दान देने में अकल्पनीय, अयोग्य थे, क्योंकि उनके वनस्पति आदि से स्पर्श, सचित्त जल का स्पर्श हो रहा था। उस समय नौकर अंगभान के हाथ से मुनि जी ने भिक्षा ग्रहण की। दान देने का अवसर मिल जाने पर उसका रोम-रोम खिल उठा। मुनिजी ने वहीं मकान में एक तरफ बैठ कर पारणा किया। अंगभान बार-बार मुनिजी के पास जा जाकर भिक्षा के लिए निवेदन कर रहा था।

मुनिजी ने कहा–'कुछ नहीं चाहिए। तुम यहां क्या करते हो?' अंगभान ने अपने जिम्मे के गृहकार्य बता दिए। मुनिजी ने कहा–'प्रतिदिन संतों के दर्शन किया करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।' अंगभान ने यह नियम ले लिया–'यदि नगर में मुनि हों तो प्रतिदिन उनके दर्शन किए बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।'

अब प्रतिदिन अंगभान सभी संतों के दर्शन करने लगा। इससे सेठ के कार्य में कुछ विलम्ब होना स्वाभाविक था। सेठ सोचने लगा–''नौकरों का क्या धर्म? उन्हें तो अपने काम से मतलब होना चाहिए। वे अगर धर्म-कर्म में लग गए तो काम कौन करेगा?''

सेठ ने अंगभान को यह बात कह दी और आगे के लिए उसे चेतावनी देते हुए कहा– ''अगर हमारे कार्य में विलम्ब होगा तो हमें तुम्हारी जगह दूसरे को रखने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।''

अंगभान–'सेठजी! मेरे जिम्मे जो कार्य है, उसमें मैं विलम्ब नहीं करूंगा, पर संत-दर्शन तो हमेशा करूँगा।'

सेठ–'मुझे तो मेरे काम से मतलब है। मैं भी देखता हूँ कि तू यह सब कब तक निभा पाता है?' बेचारा अंगभान कुछ पेशोपेश में पड़ गया, फिर भी घर में कभी अधिक काम होता तो भी वह रात्रि में चार-पाँच बजे जल्दी उठकर दर्शनार्थ चला जाता था।

एक बार घर में कोई उत्सव था। दिन-रात कार्य करना जरूरी था। रात्रि में बारह बजे सोया। तीन बजे पुनः काम में लगना था। अंगभान अढाई बजे जग गया। संत दर्शन के लिए तेज कदमों से चला और दर्शन करके वापस आते समय उसे नगर के पुलिस कर्मियों ने गिरफ्तार कर लिया।

अंगभान को प्रातः राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा ने उसे देखकर सोचा–यह चोर है–लगता तो नहीं है, इसके चेहरे पर तो सात्त्विकता झलक रही है।

राजा ने पूछा–'तुमने कौनसी वस्तु चुराई? सच-सच बताओ।'

अंगभान ने अपनी राम-कहानी सुनाई और कहा–'मैं सेठ विश्ववाहन का नौकर हूँ। हवेली में काम अधिक था, इसलिए जल्दी से संत दर्शन करने के लिए चल पड़ा। दर्शन करके वापिस आ रहा था, उस समय इन पुलिसवालों ने मुझे पकड़ लिया। इसके अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं किया।

राजा ने सेठ विश्ववाहन को बुलाकर पूछा तो सेठ ने कहा–'राजन्'! यह मेरा नौकर है। धर्म में अनुरक्त बना हुआ है। बिना संत दर्शन किए मेरा काम भी नहीं करता।' राजा ने उसे छोड़ दिया। हवेली

आते ही सेठ ने उसे नौकरी से निकाल दिया। अब अंगभान खुला काम करने लगा। उससे होने वाली आय से अपना गुजारा चलाने लगा।' संत दर्शन की अपनी प्रतिज्ञा को वह अटलभाव से निभाता रहा, उसमें कभी भी चूक नहीं होने दी। पूरा जीवन उसने इसी रूप में बिताया।

अंगभान जब मरा, तो उसके शरीर का अन्तिम संस्कार करने वाला कोई नहीं था। राजकर्मचारी आए और उसके शरीर को श्मशान भूमि में ले जाने लगे। उस समय यक्ष देवों ने उसके शरीर पर पुष्पवृष्टि की। अंगभान की जय-जयकार करते हुए वे उसकी स्तुति करने लगे। यह सब सुनकर व देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। राजा, नगरसेठ, सेठ विश्ववाहन, सेनापति आदि विशिष्ट लोग तथा हजारों संभ्रान्त नागरिक अब उसकी शव-यात्रा में आ पहुँचे।

देवों ने संत-दर्शन से बंधे हुए पुण्य का जिक्र किया और कहा–उच्च गोत्र कर्म बन्ध के कारण अंगभान देव भव के बाद महाविदेह क्षेत्र में जयभद्र नाम का चक्रवर्ती होगा। इसके जन्म के साथ ही इसकी सेवा देवता करेंगे। जब वह विजय यात्रा पर जाएगा, तो वह विजय यात्रा सद्भावना यात्रा जैसी बन जाएगी। बत्तीस हजार राजा उसकी आज्ञा में रहेंगे। पूरे भूमण्डल पर एक छत्र साम्राज्य स्थापित होगा।

चक्रवर्ती का पद भोगकर अंगभान का जीव साधुत्व स्वीकार करेगा। संयम ग्रहण करने के बाद उग्र तपस्या और विशुद्ध ध्यान में लीन होगा। संत दर्शन से ही इसके उच्च-गोत्र का बंध हुआ और उस पुण्य से यह देव और चक्रवर्ती का पद प्राप्त करेगा। यह लोकमान्य व सर्वमान्य बनेगा।

''संत दर्शन व सत्संगति से जीवन सद्संस्कारी बनता है। वस्तुतः संतदर्शन सौभाग्य का सूचक होता है।''

*** क्या आप जानते है?**

* वंदना करने से उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है और नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है।

* अहंकार के भाव क्षीण होते हैं और नम्रता के भाव पुष्ट होते हैं।

* मस्तक झुकाने पर सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण होता है।

* वंदन करते समय एड्रिनल ग्लैण्ड के सक्रिय होने से सहिष्णुता का तथा थायराइड ग्रंथि के सक्रिय होने से एकाग्रता का विकास होता है।

*** ध्यातव्य बिन्दु**

1. बहिर्विहार में किसी क्षेत्र में प्रवासित चारित्रात्माओं में प्रमुख चारित्रात्मा के सामने श्रावकों द्वारा सुबह, शाम तथा अपेक्षानुसार बीच में भी तीन तिक्खुत्तो से वन्दन किया जाना उपयुक्त है। अन्य चारित्रात्माओं के सामने तीन तिक्खुत्तो से वन्दन करना सामान्यतया आवश्यक नहीं है। गुरुकुलवास में आचार्यप्रवर, युवाचार्य व साध्वीप्रमुखा के अतिरिक्त किसी भी साधु-साध्वी को तीन तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दन करना आवश्यक नहीं है।

2. 'तनुरत्न में सुखसाता है' यह शब्दावली सामान्यतया साधु-साध्वियों के लिए सुबह-शाम तिक्खुत्तो से की जाने वाली सामूहिक वन्दना के साथ प्रयुक्त की जानी चाहिए। व्यक्तिशः दर्शन करते समय 'आपके सुखसाता है' इतना बोलना पर्याप्त है।
3. चारित्रात्मा व्याख्यान देने व कक्षा लेने के लिए पधारें तो स्वास्थ्य आदि की अनुकूलता के अनुसार खड़े-खड़े उनका बद्धांजलि अभिवादन करना श्रावकों का शिष्टाचार है, विनयप्रतिपत्ति है। ध्यातव्य है कि बड़े विराजमान हो और उनकी उपस्थिति में उनसे छोटे आएं तो श्रावकों के लिए खड़ा होना अपेक्षित नहीं है।
4. शिविर आदि में लगने वाली कक्षाओं में साधु-साध्वियां प्रशिक्षण देने आएं तो उनको तिक्खुत्तो से तीन बार वन्दन करना अपेक्षित नहीं है। वन्दन की मुद्रा में बैठकर पंचांग प्रणतिपूर्वक वन्दन करना पर्याप्त है। यदि बैठकर वन्दन करने में कठिनाई हो तो खड़े-खड़े मस्तक झुकाकर करबद्ध वन्दन करना पर्याप्त है।
5. आचार्य, युवाचार्य और साध्वीप्रमुखा के सिवाय किसी भी चारित्रात्मा के लिए वन्दे (वन्दे मुनिवरम् आदि) का प्रयोग नहीं करना चाहिए, 'मत्थएण वंदामि' बोला जा सकता है।
6. आचार्यप्रवर के पदार्पण के समय 'वन्दे' बोलना उपयुक्त है। युवाचार्य हों तो उनके लिए भी वैसा हो सकता है परन्तु आचार्यप्रवर को सुनाई दे, उस रूप में नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार साध्वियों के ठिकाने में केवल साध्वीप्रमुखा के लिए वैसा हो सकता है। आचार्यप्रवर के ठिकाने में साध्वीप्रमुखा के लिए भी बाढस्वर में 'वन्दे' आदि बोलने की अपेक्षा नहीं है।
7. भिन्न सामाचारी में स्थित साधु-साध्वियों को श्रावकों द्वारा 'तिक्खुत्तो' पाठ से ऊठ-बैठकर वंदन करना तथा चरण स्पर्श करना अपेक्षित नहीं है। घुटनों के बल पर बैठकर पंचांग प्रणतिपूर्वक करबद्ध 'मत्थएण वंदामि' का उच्चारण कर वंदन करना उपयुक्त है।
8. समणी और उपासक व्याख्यान में आएं तो सामायिक व पौषध में स्थित श्रावक-श्राविकाओं द्वारा उनके लिए वन्दन सूचक शब्दों का प्रयोग व खड़ा होना उपयुक्त नहीं है। उस स्थिति में समणी के आने पर बैठे-बैठे 'जय जिनेन्द्र' का उच्चारण करना पर्याप्त है। सामायिक व पौषध के अतिरिक्त समय में उनके सम्मान में खड़ा होने में आपत्ति नहीं है तथा 'वंदामि नमंसामि' के पाठ से उनका अभिवादन कर सकते है।

पाठ-3 सामायिक

*** मूल पाठ**

करेमि भंते! सामाइयं सावज्जंजोगं पच्चक्खामि जाव नियमं (मुहूत्तं एगं) पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

*** शब्दार्थ**

करेमि–करता हूँ

भंते!–भगवान!

सामाइयं–सामायिक

सावज्जं जोगं–सावद्य योग का

पच्चक्खामि–प्रत्याख्यान करता हूं।

जाव नियमं (मुहूत्तं एगं)–सामायिक का जितना समय (एक मुहूर्त्त)

पज्जुवासामि–पालन करता हूँ।

दुविहं–दो करण से

तिविहेणं–तीन योग से

न करेमि–न करूँगा

न कारवेमि–न कराऊँगा

मणसा-मन से

वयसा–वचन से

कायसा–शरीर से

तस्स भंते!–हे भगवान, उन पूर्वकृत पाप से

पडिक्कमामि–निवृत्त होता हूं।

निंदामि–निंदा करता हूं।

गरिहामि–गर्हा (गुरु साक्षी) करता हूं।

अप्पाणं–आत्मा को

वोसिरामि–पापों से दूर करता हूं।

अर्थ

❊ सामायिक प्रतिज्ञा

हे भगवन! मैं समता रूप सामायिक व्रत ग्रहण करता हूं, पापमय कार्यों का त्याग करता हूं। एक मुहूर्त्त (48 मिनिट) तक मैं पापमय कार्यों का, दो करण तीन योग से (न करूं, न कराऊं, मन से, वचन से, काया से) त्याग करता हूं। हे भगवन! मैं पूर्व कृत पापों से भी निवृत्त होता हूं। उनकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और उनसे दूर होता हूं।

विवेचन

❊ सामायिक

सामायिक शब्द जैन जगत में प्रसिद्ध है। प्रायः धार्मिक स्त्री-पुरुषों में सामायिक करने की प्रबल उत्कंठा रहती है। सामायिक दिनचर्या का एक प्रधान अंग है। बहुत से गृहस्थ दिन की पहल सामायिक से ही करते हैं। सामायिक वस्तुतः अभ्यास के उपयुक्त है। इससे जीवन-वृत्तियां शुद्ध बनती हैं। संयमी-जीवन का अनुभव होता है। आत्मा को शुद्ध, सरल और उन्नत होने में असाधारण प्रेरणा मिलती है।

सामायिक क्या है?

जैन श्रावक-श्राविकाएं प्रतिदिन सामायिक करते हैं, अपने बच्चों को भी वे सामायिक करने की प्रेरणा देते हैं। प्रश्न है–यह सामायिक क्या है? किसे कहते हैं सामायिक? सामायिक स्वीकार करते समय एक श्रावक बोलता है–**करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।** सावद्य योग के प्रत्याख्यान का नाम है–सामायिक। सावद्य योग है–विषमता और सावद्य योग का प्रत्याख्यान है–सामायिक या समता।

सावद्य योग की परिभाषा बहुत स्पष्ट है। अठारह पाप सावद्य हैं। इन अठारह पापों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

पहला वर्ग–प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह।

दूसरा वर्ग–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष।

तीसरा वर्ग–कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति।

चौथा वर्ग–माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य।

इन चार वर्गों में अठारह पाप समाहित हो जाते हैं।

हम विचार करें–सामायिक करने वाला क्या छोड़ता है? पांच आश्रव–प्राणातिपात आदि को छोड़ता है। क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष को छोड़ता है। यदि इस अर्थ का ध्यान रहे तो सामायिक करते समय एक स्पष्ट चित्र बनेगा कि मैं क्या कर रहा हूं। मैं क्रोध को उपशान्त करने की साधना कर रहा हूं। मैं अहंकार को शांत करने की साधना कर रहा हूं। माया और लोभ को मिटाने की साधना कर रहा हूं।...शल्य मुक्ति की साधना कर रहा हूं। साधना के इस सुन्दर सूत्र का नाम ही सामायिक है। जो सामायिक (समता) का आस्वाद नहीं लेता, उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। सामायिक मन को प्रसन्न करने का अपूर्व साधन है। भगवान ने कहा–समता सबसे बड़ा सुख है और विषमता दु:ख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए भगवान महावीर ने श्रावक के बारहव्रतों में नौवां सामायिक व्रत का विधान किया है। सामायिक करते समय गृहस्थ साधु की तरह संयमी बन जाता है। साधु का संयम पूर्ण होता है और गृहस्थ का संयम आंशिक फिर भी '**समुद्रवत्तडागः**' (समुद्र की तरह तालाब) के अनुसार सामायिक-व्रत गृहस्थ को साधुवृत्ति का उपमेय बना देता है।

सामायिक साधना है

सामायिक को स्वीकार कर क्या करना चाहिए? यह अवश्य ज्ञातव्य है। सामायिक में गृहस्थ को गुरु के समक्ष आगम का अर्थ पूछना चाहिए। उस पर मनन करना चाहिए। अनित्य चिंतन, एकत्व चिंतन आदि बारह भावनाओं का चिंतन करना चाहिए। महापुरुषों के आचरणों का स्मरण करना चाहिए, जिससे सामायिक का लक्ष्य अटल रह सके। सामायिक में स्वाध्याय, जप (माला), ध्यान, धार्मिक गीतों का समुच्चारण, प्रवचन श्रवण आदि निरवद्य कार्य किए जा सकते हैं। सामायिक में आलस्य, विकथा, निद्रा आदि दोष वर्जनीय है।

सामायिक में मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों पर संयम होना आवश्यक है। बिना देखे चलना-फिरना और अनुचित ढंग से बैठना आदि कायिक दोष हैं। बुरे वचन बोलना, बिना विचारे बोलना, हिंसामिश्रित बोलना, कलहोत्पादक वाणी बोलना, विकथा करना, आने जाने का आदेश देना आदि वाचिक दोष हैं। कोप करना, यश की अभिलाषा करना, अहंकार करना आदि मानसिक दोष हैं।

सबका सारांश यही है कि सामायिक को स्वीकार कर उसके पालन करने में यत्नशील रहना चाहिए। केवल समय की पूर्ति और प्रथा का अनुसरण मात्र ही आदेय नहीं होना चाहिए।

सामायिक के प्रति औदासीन्य क्यों?

बहुत से लोग इस आशंका से सामायिक करने से कतराते हैं कि क्या करूं, मन तो स्थिर रहता नहीं, फिर केवल सामायिक करने से क्या लाभ है?

इसके बारे में यह जानना आवश्यक है कि सामायिक अभ्यास है–साधना है, साध्य नहीं। अध्यात्म-साधक के सम्मुख पूर्ण आत्म-विकास–मोक्ष साध्य होता है। साध्य ठीक है तो फिर उसकी

साधना में कहीं स्खलना हो जाए, उससे घबराने की आवश्यकता नहीं। स्खलना के भय से साधना को छोड़ देना वज्र-भूल है। घाटे के भय से व्यापारी-वर्ग व्यापार करना छोड़ दे और फसल खराब होने की आशंका से कृषक-वर्ग बीज बोना छोड़ दे तो क्या वे अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं?

आत्म-साधक भी साधना में हो जाने वाली कुछ त्रुटियों से घबराकर समूची साधना को ठुकरा दे, यह उचित नहीं। इसके विपरीत उसे उन त्रुटियों पर विजय पाने की चेष्टा करते रहना चाहिए। मान लो कि सामायिक में मन स्थिर न रहा तो उसका पूर्ण लाभ नहीं मिला पर वह बिल्कुल बेकार तो नहीं हुई।

सामायिक में शरीर, वचन और मन–इन तीनों की पापमय प्रवृत्ति करने का त्याग होता है। मानसिक दोष लगने से सामायिक का भंग नहीं होता, किंतु उसमें दोष लगता है। इसके अतिरिक्त शरीर और वाणी पर नियंत्रण रहता है, उनका पापमय व्यापार नहीं होता, यह भी कोई कम बात नहीं है।

विवेकी मनुष्य पूरा लाभ न मिलने की दशा में अधूरा लाभ मिले, उसे छोड़ता नहीं। हां, साधक का लक्ष्य सामायिक में मानसिक दोष सेवन का नहीं होना चाहिए। यदि दोष लग जाए तो उसकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त कर ले, किंतु इसके बहाने सामायिक करना न छोड़े, क्योंकि साधना करते-करते मन पर विजय होगी तथा पूर्ण विशुद्धि का द्वार भी खुल जाएगा और संयोगवशात् किसी का मन आजीवन भी वश में न हो, तो भी शरीर और वचन को पाप कर्मों से अलग रखने वाला एवं मानस-विजय की साधना में लगा रहने वाला घाटे में नहीं रहता।

❊ उपसंहार

समता का सूत्र अध्यात्म का सूत्र है। सामायिक की साधना में इन बातों पर ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है–

❊ उच्चारण शुद्ध हो।

❊ सामायिक का अर्थ ज्ञात हो।

❊ यह अनुप्रेक्षा होनी चाहिए–मैं समता के किन सूत्रों की साधना कर रहा हूं। किन सावद्य योगों को मैं छोड़ रहा हूं और किन निरवद्य योगों की प्राप्ति की चेष्टा कर रहा हूं।

अनुप्रेक्षा का यह विवेक सामायिक के साथ जुड़ जाए तो सारे व्रत स्वयंमेव सध जाएं। यदि यह पूछा जाए–एक शब्द में भगवान महावीर का धर्म क्या है तो इसका उत्तर होगा–सामायिक। इतने महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान की साधना पहली आवश्यकता है। इसे अपना कर अपने जीवन को सार्थक और सफल बनाएं।

❊ सामायिक आलोचना पाठ

नौंवें सामायिक व्रत में जो कोई अतिचार (दोष) लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं/करती हूं। 1. मन की सावद्य प्रवृत्ति की हो। 2. वचन की सावद्य प्रवृत्ति की हो। 3. शरीर की सावद्य प्रवृत्ति की हो। 4. सामायिक के नियमों का पूरा पालन न किया हो। 5. अवधि

से पहले सामायिक को पूरा किया हो। "तस्स मिच्छामि दुक्कडं।" (इनसे लगे मेरे पाप मिथ्या हो, निष्फल हो।)

सामायिक–व्रत श्रावक के आदरणीय बारह व्रतों में नवमां व्रत है। सामायिक का कालमान एक मुहूर्त्त (48 मिनट) का है। इस अवधि के बीच में सामायिक व्रत पालने के समय प्रमादवश, भूल से या जानबूझ कर जो कोई मामूली स्खलना हो जाती है उसका ''**सामायिक आलोचना पाठ**'' प्रायश्चित्त है। सामायिक की पूर्ति इससे करना आवश्यक है अथवा सामायिक का कालमान पूरा हो जाने के पश्चात् सामायिक आलोचना पाठ का ध्यानपूर्वक उच्चारण करना अत्यावश्यक है। इसके उपरान्त यदि सामायिक में अधिक दोष लगा हो तो उसके लिए चारित्रात्माओं के समक्ष प्रायश्चित कर लेना चाहिए।

❊ श्री मिश्रीमलजी सुराना

शीर्षासन में दो-दो सामायिक करना मिश्रीमलजी के लिए बहुत सामान्य बात थी। वे सुप्त गर्भासन में भी सामायिक का प्रयोग करते थे। सन् 1981 के दिल्ली चातुर्मास में वे उपासना करने आए। यात्रियों के लिए निर्मित कुटीरों में वे ठहरे थे। एक दिन सूर्योदय से पहले वे अपने कुटीर में सामायिक कर रहे थे। सामायिक में वे खड़े-खड़े ध्यान कर रहे थे। इतने में एक चूहे जैसा कोई जंतु वहां आया और उसने उनके पैर को काट लिया। इससे खून निकलने लगा। मिश्रीमलजी ध्यान में खड़े रहे। जंतु ने उनको बार-बार काटा। लगभग एक वर्ग फुट स्थान उससे प्रभावित हो गया, किंतु उनकी तन्मयता भंग नहीं हुई। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में समता के प्रकंपन सक्रिय रहते हैं, वही ऐसी स्थिति में अविचल रह सकता है।

❊ श्री मोहनलालजी खटेड़

मोहनलालजी खटेड़ की सामायिक साधना में गहरी आस्था थी। वे प्रतिदिन सामायिक करते थे। एक सामायिक किए बिना वे मुंह में पानी भी नहीं लेते थे। देश-परदेश जाते-आते समय ट्रेन में दो-दो दिन लग जाते। उस समय कभी उपवास करते और कभी एक ट्रेन छोड़कर प्लेटफार्म पर सामायिक करते व दूसरी ट्रेन में बैठकर अपने गंतव्य तक पहुंचते। इस प्रकार अपने संकल्प की संपूर्ति के लिए उन्होंने बहुत वर्षों तक ऐसी कठिनाई झेली।

❊ कथा बोध

भगवान महावीर राजगृह नगर में थे। सम्राट श्रेणिक भगवान के दर्शन करने आया। उसने बड़े विनयभाव के साथ भगवान से नरक गति में जाने से बचने के लिए उपाय पूछा–भगवान ने कुछ उपाय सुझाए, पर वे संभव नहीं बन पाए। श्रेणिक के असमाहित मन ने फिर समाधान मांगा। भगवान बोले, राजन्! पूणिया श्रावक की एक सामायिक का फल तुम्हें मिल जाए तो तुम्हारी नरक गति टल सकती है। यह बात सुनकर श्रेणिक का मन प्रसन्न हो गया।

दूसरे दिन प्रातः काल ही श्रेणिक, पूणिया श्रावक के घर पहुँचा। अचानक राजा को अपने घर-आंगन में देख पूणिया प्रसन्न हुआ। प्रसन्नता के साथ उसके मन में भय भी था। वह राजा के आगमन

का कारण नहीं समझ पाया। पूणिया कोई इतना बड़ा आदमी नहीं था कि उसके घर राजा आए। वह रुई की पूणिया बनाकर बेचता और उसी से अपने परिवार का निर्वाह करता था। उसने बद्धांजलि होकर पूछा–'महाराज! आपने अनुग्रह करके मेरी कुटिया को पावन बनाया है? कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

श्रेणिक बोला–'श्रावकजी! मुझे और कुछ नहीं चाहिए, केवल आपकी एक सामायिक की जरूरत है।'

एकदम नई बात सुन पूणिया कुछ सोचने लगा, तो श्रेणिक ने कहा–'आप चिन्ता न करें। मैं आपकी सामायिक मुफ्त में नहीं लूंगा। उसके लिए जितना पैसा लेना चाहो, ले लो।' पूणिया बोला–मेरे पास जो कुछ है वह आपका ही है, मैं आपके किसी काम आ सकूं इससे बढ़कर मेरा क्या सौभाग्य होगा। किन्तु राजन्! हर भौतिक पदार्थ का मूल्य होता है। सामायिक आत्मा का तत्त्व है, आध्यात्मिक अनुष्ठान है, क्या उसका मूल्य किसी भौतिक वस्तु से चुकाया जा सकता है?

श्रेणिक सामायिक लेने के लिए तैयार और पूणिया देने के लिए तैयार। किन्तु उसके मूल्य को लेकर समस्या खड़ी हो गई। आखिर दोनों भगवान के पास पहुँचे। श्रोणिक ने भगवान से सामायिक का मूल्य पूछा। भगवान् बोले–राजन! एक सामायिक की दलाली का मूल्य तुम्हारे राज्य के समग्र वैभव से अधिक है। अब तुम ही सोच लो कि एक सामायिक का मूल्य कितना हो सकता है।

भगवान के इस कथन से श्रेणिक हतप्रभ बन गया। आखिर वह समझ गया कि सामायिक समता की वह उत्कृष्ट साधना है, जिसके लिए हर भौतिक मूल्य अकिंचित्कर हैं। वह निःश्वास छोड़ता हुआ बोला–'भंते! क्या मैं मान लूं कि नरक मेरी भवितव्यता है?' भगवान ने इस सच्चाई को स्वीकार किया।

इस घटना से यह बात सिद्ध होती है कि सामायिक की साधना के प्रसंग में पूणिया का जो स्थान था, वह सम्राट श्रेणिक का भी नहीं था।

❊ क्या आप जानते है?

1. सामायिक की साधना से मानसिक संतुलन का विकास होता है।
2. सामायिक की साधना से मन, वचन और काया में सामंजस्य स्थापित होता है।
3. सामायिक की साधना विधायक (Positive) भावों के विकास का उपक्रम है।

❊ ध्यातव्य बिन्दु

1. सामायिक में दो करण तीन योग से सावद्य योग का एक मुहूर्त्त (48 मिनट) के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है।
2. सामायिक एक साथ कितनी भी ली जा सकती है तथा एक सामायिक पूरी होने से पहले दूसरी-तीसरी सामायिक का प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है, किन्तु उसका कालमान (दो मुहूर्त्त, तीन मुहूर्त्त) पूरा हो जाना चाहिए।

3. सामायिक काल में पौषध का प्रत्याख्यान किया जा सकता है। यदि संवर का प्रत्याख्यान किया जाए तो उसे सामायिक की संपूर्ति के बाद से ही गिना जाए।
4. वायुयान, ट्रेन, नौका, जहाज, कार, बस आदि वाहन चल रहे हों या रुके हुए हों तब उसमें सामायिक नहीं करनी चाहिए।
5. ऑक्सीजन का पाइप लगा हुआ है उस समय सामायिक नहीं करनी चाहिए। आगार से संवर किया जा सकता है।
6. पंडाल आदि में गलीचा आदि बिछाया हुआ हो, भले उस पर टेप आदि कुछ लगाया हुआ हो तो उस पर सामायिक व पौषध नहीं किए जाएं, क्योंकि बीच-बीच में वह खुला रह सकता है।
7. सामायिक में आभूषण आदि उतारना अपेक्षित नहीं है, मुख पर मुखवस्त्रिका का रहना वांछनीय है। सामायिक की दृष्टि से पुरुष के लिए पहने हुए वस्त्रों को उतारना आवश्यक नहीं है। अनुकूलतानुसार चद्दर का रहना उपयुक्त है।
8. सामायिक के लिए आसन (बैठने के लिए वस्त्र आदि का बना हुआ उपकरण) होना अच्छा है, यदि आसन न हो तो आंगन पर बैठकर भी सामायिक की जा सकती है व सामान्य कुर्सी, पट्ट आदि का उपयोग भी किया जा सकता है। सोफा आदि के प्रयोग से बचना चाहिए।
9. सामायिक में सिन्थेटिक रूई, स्पंज आदि का उपयोग करने में आपत्ति नहीं बशर्ते कि कोई हिंसा का प्रसंग न हो। दस साल से ज्यादा पुरानी रूई का बिछौना आदि उसके बीज के कारण सचित्त युक्त न माना जाए।
10. सामायिक में अनावश्यक गमनागमन न किया जाए। आवश्यक गमनागमन करना हो तो दिन में बिना देखे एवं रात्रि में प्रमार्जनी आदि से प्रमार्जन किए बिना न किया जाए।
11. सामान्यतया शारीरिक बाधा की निवृत्ति के पश्चात् ही सामायिक की जाए, किंतु सामायिक काल में आवश्यकता लगे तो उसे रोका न जाए, किंतु निवृत्ति में शौचालय आदि का प्रयोग किया जाए तो प्रायश्चित्त ग्राह्य है।
12. पौषध व सामायिक में शौचालय व मूत्रालय में जाने के लिए चप्पल-जूती पहनने में आपत्ति नहीं। वह जीव रहित है या नहीं, यह ध्यान दे लेना चाहिए। उसका अलग से प्रायश्चित्त अपेक्षित नहीं। लघुशंका व शौच के प्रायश्चित्त में ही वह समाविष्ट है। प्रवचन स्थल आदि पर जाने-आने के लिए चप्पल आदि का उपयोग न करें।
13. सामायिक में सावद्य (सामाजिक, सांसारिक, पारिवारिक, व्यावसायिक आदि) बात न की जाए तथा समाचार पत्र, विद्यालयी पाठ्यक्रम की पुस्तकें आदि भी न पढ़ी जाएं।

14. सामायिक में सांसारिक देवी-देवताओं (पद्मावती, सरस्वती, भैरुंजी, घंटाकर्ण महावीर आदि) की माला न फेरी जाए। सामायिक में प्रकाश वाली घड़ी का उपयोग करने में आपत्ति नहीं है।
15. सामायिक में शारीरिक स्वास्थ्य आदि के लिए आसन-प्राणायाम न किया जाए व सामायिक के दौरान नींद न ली जाए।
16. सामायिक में वह धार्मिक लेखन आदि भी नहीं किया जाए, जो आर्थिक अनुबन्ध से जुड़ा हुआ हो, जैसे-किसी संस्था के वेतनभोगी कर्मचारी द्वारा जैन विद्या, आगम आदि के प्रश्न पत्र आदि का निर्माण करना और परीक्षार्थी कॉपियों की जांच करना।
17. सामायिक में मोमेंटो, साहित्य आदि कुछ भी भेंट में न लिया जाए, न दिया जाए।
18. सामायिक में संस्थाओं की शपथ लेना, दायित्व ग्रहण करना तथा फाइल आदि हस्ताक्षर करना सम्मत नहीं है।
19. सामायिक में मोबाईल फोन से प्राय: विरति रहनी चाहिए। सामायिक के दौरान सामायिक के संदर्भ में मोबाईल फोन के माध्यम से समय देखना हो तथा आचार्यप्रवर आदि चारित्रात्माओं का कोई प्रवचन कार्यक्रम टी.वी. में आ रहा है, उसके लिए थोड़ा-सा रिमोट आदि रूप में मोबाईल फोन का उपयोग करना हो तो आपत्ति नहीं।

    इन दो चीजों के सिवाय सामायिक में मोबाईल फोन में देखना, सुनना व बातचीत आदि करना वर्जनीय माना जाए।
20. सामायिक व पौषध में समण श्रेणी व अन्य श्रावक समुदाय से व्यक्तिगत रूप में खमतखामणा न किया जाए।
21. सामायिक (प्रत्याख्यान से पूर्व/पश्चात्) चउवीसत्थव करना आवश्यक नहीं है। स्वाध्याय रूप में किया जाए तो आपत्ति नहीं।

पाठ-4 मंगलपाठ

*** मूलपाठ**

चत्तारि मंगलं–अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं केवलिपण्णतो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा–अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णतो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पवज्जामि–अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णतं धम्मं सरणं पवज्जामि।

*** शब्दार्थ**

चत्तारि मंगलं–चार मंगल है

अरहंता मंगलं–अर्हत् मंगल है

सिद्धा मंगलं–सिद्ध मंगल है

साहू मंगलं–साधु मंगल है

केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं–केवली प्रज्ञप्त धर्म मंगल है।

चत्तारि लोगुत्तमा–चार लोक में उत्तम है

अरहंता लोगुत्तमा–अर्हत् लोक में उत्तम है

सिद्धा लोगुत्तमा–सिद्ध लोक में उत्तम है

साहू लोगुत्तमा–साधु लोक में उत्तम है

केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो–केवली प्रज्ञप्त धर्म लोक में उत्तम है।

चत्तारि सरणं पवज्जामि–चार की शरण ग्रहण करता हूं–

अरहंते सरणं पवज्जामि–अर्हत् की शरण को ग्रहण करता हूं

सिद्धे सरणं पवज्जामि–सिद्ध की शरण को ग्रहण करता हूं

साहू सरणं पवज्जामि–साधु की शरण को ग्रहण करता हूं

केवलि पण्णतं धम्मं सरणं पवज्जामि–केवली प्रज्ञप्त धर्म की शरण को ग्रहण करता हूं।

❊ विवेचन

मंगल का अर्थ है–विघ्न का नाश करना। विघ्न होने का हेतु कर्म-फल है। कर्मोदय होने के कारण ही यथेष्ट सिद्धि में बाधाएं उपस्थित होती हैं। विशुद्ध आत्माओं का स्मरण, उपासना एवं विशुद्ध आचरण कर्म-समूहों का क्षय करने वाले हैं। अतः ये मंगल हैं।

मंगल दो प्रकार के होते हैं–द्रव्य मंगल और भाव मंगल। गुण शून्य मंगल को द्रव्य मंगल कहते हैं। यह वस्तुतः मंगल नहीं, केवल उपचार मात्र है। जैसे–दही, गुड़, दूर्वा, रोली आदि पदार्थ लोक दृष्टि से मंगल माने जाते हैं। भाव मंगल से तात्पर्य है–सगुण मंगल। यह परमार्थ रूप से मंगल है।

अर्हत्, सिद्ध, साधु और केवली भाषित-धर्म मंगल क्यों है? यह तो स्पष्ट ही है। क्योंकि अर्हत् संयमी होते हैं और घाति कर्मों से रहित होते हैं, सिद्ध सब कर्मों से रहित होते हैं, साधु छह जीवनिकाय को अभय दान देते हैं तथा संयमी होते हैं। इनकी उपासना या स्मृति से कर्मक्षय होता है, अतः मंगल हैं।

धर्म संवर या निर्जरा रूप है। संवर से कर्म का निरोध होता है एवं निर्जरा से आत्मा उज्ज्वल होती है, अतएव धर्म मंगल है। ये सब मंगल करने वाले हैं इसलिए लोक में उत्तम है और इनकी शरण ग्राह्य है।

जैन परम्परा में अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म –इन चारों की शरण स्वीकार की जाती है।

अर्हत् अर्थात् वीतरागता की शरण, सिद्ध अर्थात् मुक्तात्मा की शरण, साधु अर्थात् साधना की शरण, और धर्म अर्थात् सत्य की शरण। वास्तव में ये चार ही शरण हैं, दूसरा कोई शरण बन नहीं सकता। इसमें न लड़के की शरण की बात है, न धन-वैभव के शरण की बात है और न ही पिता या पति के शरण की बात है। इसमें केवल वे शरण बने हैं जिनके पास कुछ भी नहीं है। एक शब्द में कहा जा सकता है–शरण है आकिंचन्य की। यह एक सच्चाई है–जिनके पास बहुत है, वे शरण नहीं दे सकते। जब विपरीत परिस्थिति आती है तब सब मुंह मोड़ लेते हैं। उस समय शरण वे ही बन सकते है जो अकिंचन हैं, जिनके पास कुछ भी नहीं है।

❊ कथाबोध

आम्रपाली एक गणिका थी। वह रूप-सौन्दर्य की मूर्ति थी। उसको पाने के लिए वैशाली के राजा, महाराजा, सामंत, सेठ आदि सभी लालायित रहते थे। एक बार एक पहुंचे हुए संत वहां आए। उन्हें आम्रपाली के पास जाने के लिए कहा गया। संत बोले–अभी नहीं, जब जरूरत होगी तब अवश्य जाऊंगा। काल बीता आम्रपाली के शरीर पर बुढ़ापा उतरने लगा। रूप सौंदर्य मुरझा गया। बीमार हो गई। कोई पास में नहीं आ रहा था। सभी ने उसको छिटका दिया। विचरण करते-करते वे संत पुनः

उस नगरी में आए तब उन्हें आम्रपाली की अवस्था ज्ञात हुई। वे उसके पास गए, आम्रपाली बोली– मुनिप्रवर! बहुत विलम्ब से आए। उस समय आप आते तो मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो जाते। आज वैसी स्थिति नहीं है। संत बोले–देवी! वह मेरे लिए असमय था, तुम्हारे पास आने का। उचित समय यही है, क्योंकि जब कोई नहीं होता है तब साधु-संत ही शरण होते हैं। आज तुझे मेरी आवश्यकता है, धर्म की जरूरत है। ऐसी स्थिति में अर्हत् ही शरण होते हैं, सिद्ध ही शरण होते हैं, साधु ही शरण होते हैं और धर्म ही शरण होता है। जब शेष सारे माने हुए शरण अकिंचित्कर हो जाते हैं तब यह शरण चतुष्टयी ही त्राण देती है, शरण बनती है। ये शरण सूत्र शक्ति के प्रतीक है।

*** क्या आप जानते है**

1. यह मंगलपाठ अपने आप में बहुत शक्तिशाली है। यात्रा आदि किसी नए कार्य के प्रारंभ में इसका चारित्रात्माओं आदि के द्वारा श्रवण अथवा वे न हो तो स्वयं इसका स्तवन आदि करना मंगलदायक सिद्ध होता है।
2. इस मंगलपाठ का उपयोग मंगलकामना व विघ्न निवारण के लिए होता रहा है।
3. मंगलपाठ का वर्णन आवस्सयं में उपलब्ध होता है।

पाठ-5 सम्यक्त्व दीक्षा : देव, गुरु, धर्म

सम्यक्त्व दीक्षा

मैं भगवान महावीर को अपने आराध्य देव के रूप में स्वीकार करता हूं।

मैं परमपूज्य आचार्यश्री महाश्रमणजी को अपना गुरु स्वीकार करता हूं।

मैं जैन श्वेताम्बर तेरापंथ को ही अपना एकमात्र धर्म स्वीकार करता हूं।

- **मैं यावज्जीवन के लिए देव, गुरु और धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूं।**
- **मैं अण्डा, मांस, मछली व शराब का सेवन नहीं करूंगा।**
- **मैं आवेशवश, आत्महत्या और अन्य किसी मनुष्य की हत्या नहीं करूंगा।**
- **मैं विशेष परिस्थिति के सिवाय प्रतिदिन नमस्कार महामंत्र का कम से कम इक्कीस बार पाठ करूंगा।**
- **मैं इन चारों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूं।**

❊ सम्यक्त्व

जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्वपूर्ण स्थान है। मोक्ष के चार मार्ग बतलाए गए हैं। इनमें इसका स्थान सबसे पहला है। वस्तुतः होना ही चाहिए क्योंकि जब तक हमारा कोई एक निश्चित लक्ष्य नहीं बनता तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते।

सम्यक्त्व, जैन दृष्टिकोण का स्थिर लक्ष्य या मध्यबिन्दु है। इसी के सहारे मुमुक्षु पुरुष आत्म-साधना की ओर अग्रसर होते हैं। कोई पुरुष आत्म-मुक्ति के लिए जो आचार पालना चाहे, जिसमें उसका विश्वास ही नहीं तो वह उस दिशा में सफल नहीं हो सकता। यह एक अकाट्य नियम है।

आत्म-साधक का सही लक्ष्य एवं सत्य के प्रति जो विश्वास है वही सम्यक्त्व है। आत्म साधक का लक्ष्य आत्म-मुक्ति होता है। अगर उसे आत्मा एवं मुक्ति में विश्वास न हो तो वह आत्म-साधना क्यों करे, इसलिए सर्वप्रथम आत्मा आदि तत्त्वों पर यथार्थ विश्वास होना चाहिए। इसके बाद आत्म

मुक्ति के जो उपाय हैं, जिन्हें धर्म कहते हैं, उन पर सही श्रद्धा होनी चाहिए। सब मनुष्य अपने आप इन तत्त्वों की असलियत तक पहुँच नहीं सकते। अतः इनका पथ-प्रदर्शन करने वाले शुद्ध साधुओं के प्रति भी आत्म-विश्वास होना जरूरी है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि देव, गुरु और धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा करना जरूरी है और वही सम्यक्त्व है। देव पर हमें विश्वास इसलिए करना होगा कि वह हमारी आत्म-साधना के मार्गदर्शक है। वे सदा जीवित नहीं रहते अतः उनके अनुगामी एवं उनके तत्त्वों की व्याख्या करने वाले शुद्ध साधुओं पर विश्वास करना होगा, जो हमारे धर्मगुरु होते हैं। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है, उस पर विश्वास होना स्वाभाविक है।

सम्यक्त्व (दर्शन) सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् चारित्र की जड़ है–सम्यक्त्व आत्म साधना की पहली मंजिल है। नव तत्त्व (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष) का ज्ञान सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए आवश्यक है।

देव

शासन के अधिष्ठाता को देव कहते हैं। हमारे देव अर्हत् (तीर्थंकर) हैं, भगवान महावीर स्वामी हैं। हमें अध्यात्म का मार्ग लौकिक देवताओं की उपासना करना नहीं सिखाता। वह तो हमें उन्हीं देवताओं की आराधना करना सिखाता है, जो '**दिव्यन्ति स्वरूपे देवाः**' आत्मस्वरूप में दैदीप्यमान हैं, जिनकी आत्मा में विशुद्धचारित्र की लौ जगी हुई है। जो सर्वज्ञ हैं, केवलज्ञान से सब पदार्थों को यथावत् जानते हैं, राग-द्वेष आदि दोषों का जिन्होंने क्षय कर डाला है, जो तीन लोक में पूजित हैं, जो यथार्थवादी है अर्थात् पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा ही उपदेश करते हैं, वे पुरुषोत्तम मनुष्य देव हैं, अर्हत् हैं, परमेश्वर हैं, सत्य धर्म के प्रवर्तक हैं।

प्रश्न–हम अपना आराध्य, हम अपना आदर्श वीतराग पुरुष को ही क्यों चुने? अन्य को क्यों नहीं?

उत्तर–यदि हमारा आराध्य, हमारा आदर्श वीतराग नहीं होगा, सरागी होगा तो उसका कथन भी राग-द्वेष से युक्त रहेगा, वह कभी हमें वीतरागता का पथ नहीं दिखा पाएगा। इसलिए कहा गया–अपना आराध्य उसे बनाओ जो वीतराग हो। भगवान महावीर वीतराग पुरुष हैं, उनकी स्मृति हमारी वीतरागता की दिशा में प्रस्थान की प्रेरणा बनती है। इसलिए हमने उन्हें अपना आराध्य, आदर्श स्वीकार किया है।

गुरु

जीवनगत विघ्नों का निवारण प्रत्येक व्यक्ति चाहता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने मंगल की कामना करता है, अपने कल्याण की भावना रखता है, जीवन के पग-पग पर आने वाली नकारात्मकता में वह मार्गदर्शन की चाह रखता है, अपने अज्ञान का नाश करना चाहता है। इसके लिए आवश्यकता है–गुरु की।

जीवन में एक गुरु होते हैं, जिनका स्थान जीवन में सर्वोपरि होता है। वे हमें सत्यता की अनुभूति कराने वाले होते हैं। उनका मार्गदर्शन हमारे व्यक्तित्व को एक ऊँचाई प्रदान करता है। उनकी सन्निधि हमारी दुविधाओं को मिटाने वाली होती है। उनके अनमोल बोल हमें संजीवन देने वाले होते हैं। उनका पथदर्शन हमारे जीवन के लिए आत्मोत्थान का मंत्र बनता है। पर यह सब कब, जब हमारी गुरु के प्रति अटूट आस्था हो। जब हमारा गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण हो।

हम गुरु के साथ देव शब्द का भी प्रयोग करते हैं–जैसे 'गुरुदेव' पर यह अत्युक्ति नहीं, क्योंकि गुरु का स्थान तो देवता से कहीं और अधिक ऊंचा है। गुरु को हम नमस्कार महामंत्र में परमेष्ठी या परमात्मा कहते हैं। क्या 'देवता' का परमात्मा से भी अधिक महत्व है? एक बात और भी आश्चर्य की है कि जब आचार्य को तीर्थंकर के समान भगवान या पूज्य परमेश्वर कहा जाता है, तब बहुत से जैनी भी असमंजस में पड़ जाते हैं, परन्तु गम्भीरता से सोचा जाए तो इसमें भी विचार करने जैसी कोई बात नहीं है। सामायिक ग्रहण के समय गुरु को 'भंते' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, जिसका अर्थ है 'भगवन्'। इसके अतिरिक्त आचार्यों को '**अजिणा जिण संकासा**' जिन नहीं किन्तु जिन के समान कहा गया है। इसलिए गुरुदेव शब्द से आचार्य को सम्बोधित करना सर्वथा उचित है। वर्तमान में हमारे गुरु आचार्यश्री महाश्रमणजी हैं।

धर्म

धर्म है अपनी आत्मा की शुद्धि, धर्म है अपनी आत्मा का स्वभाव और धर्म है अपनी आत्मा की शुद्धावस्था। ये अहिंसा, संयम और तप के रूप में प्रकट होते हैं, अतः ये धर्म के साधन हैं, ''**आत्मशुद्धि साधनं धर्मः**'' आत्मा की शुद्धि का जो साधन है, वह धर्म है। भगवान महावीर ने कहा–'**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई**', धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है। धर्म का वास पवित्र हृदय, शुद्ध हृदय में होता है। जहां मन की पवित्रता रहती है, वाणी की पवित्रता रहती है और विचारों की पवित्रता रहती है, वहां धर्म का वास होता है। इसके अतिरिक्त जहां राग-द्वेष प्रमुख होते हैं, वहां धर्म नहीं, मुक्ति नहीं, संसार प्रमुख होता है, बंधन प्रमुख होते हैं। इसलिए राग-द्वेष से परे वीतरागता का आचरण ही धर्म की साधना है, वीतरागता की साधना ही धर्म की आराधना है। जप, तप, स्वाध्याय, सामायिक आदि वीतराग भाव के विकास की प्रक्रिया है, इसलिए इनका निरन्तर अभ्यास जरूरी है।

प्रश्न–जब धर्म वीतराग भाव है, आत्मा की शुद्धावस्था है, पवित्रता है, आत्मा की विशुद्ध लौ है, तब तो सम्प्रदाय का महत्त्व ही क्या रहा? क्यों धर्म को सम्प्रदाय के साथ बांधा गया?

उत्तर–यदि पात्र के बिना प्रकाश, छिलके के बिना फल और भाषा के बिना ज्ञान होता तो धर्म सम्प्रदाय से मुक्त हो जाता। पर इस दुनिया में ऐसा होता नहीं। धर्म-दीप की लौ है तो सम्प्रदाय उसका पात्र। धर्म फल का सार है तो सम्प्रदाय उसका छिलका। धर्म चैतन्य है तो सम्प्रदाय उसको व्यक्त करने वाली भाषा। इस प्रकार दोनों में भिन्नता होते हुए भी परस्परता है। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है।

यह देव, गुरु और धर्म एक त्रिपुटी है, एक मार्ग है, जो श्रावक के हृदय में सदा प्रतिष्ठित रहता है।

1. वीतरागता का प्रतिपादन करने वाले-देव।

2. वीतरागता के पथदर्शक-गुरु।

3. वीतरागता का आचरण-धर्म।

*** स्वीकरणीय नियम**

इसके साथ-साथ श्रावक में जैनत्व के संस्कार भी पुष्ट होते रहे, इसलिए सम्यक्त्व दीक्षा के साथ चार नियमों की भी संयोजना की गई–

1. मैं यावज्जीवन के लिए देव, गुरु और धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूं ।

सांसारिक अपेक्षाओं से श्रावक लौकिक देवी-देवताओं की पूजा करता है, पर वह उन्हें अपना आराध्य स्वीकार नहीं करता। उन्हें वह अपने आध्यात्मिक उत्थान का हेतु नहीं समझता। इसलिए उसमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि एक श्रावक का आराध्य तो हमेशा वीतराग पुरुष ही होगा।

श्रावक देव, गुरु और धर्म के प्रति अटल आस्थावान होता है, विशेष श्रद्धाशील होता है। वह उनकी आराधना के प्रति विशेष जागरूक होता है। उन्हें वह अपने जीवन में कठिन से कठिन विपत्तियों के आने पर भी घर व कपड़ों की तरह बदलता नहीं।

2. मैं अण्डा, मांस, मछली व शराब का सेवन नहीं करूंगा।

3. मैं आवेशवश आत्महत्या और अन्य किसी मनुष्य की हत्या नहीं करूंगा।

जैन श्रावक जिन भगवान की वाणी को अपना आदर्श बना जीवन जीता है। श्रमण भगवान महावीर ने मांसाहार, पंचेन्द्रिय वध जैसे को घोर पाप की श्रेणी में गिना व इसे नरक में जाने का कारण बताया। भगवान ने शराब को भी कुव्यसन में गिना। इसलिए जैन श्रावक इनका तो विशेष सख्ती से वर्जन करता है। विवेक सम्पन्न तथा बुद्धिमान पुरुष आत्महत्या के प्रसंगों में गुरुजनों से मार्गदर्शन ले अपने भावों को शुद्ध बना धर्म की विशेष आराधना करता है। क्योंकि आत्महत्या करके तो भगवान महावीर के प्रमुख भक्त राजा श्रेणिक को भी नरक ही मिली थी।

4. मैं विशेष परिस्थिति के सिवाय प्रतिदिन नमस्कार महामंत्र का कम से कम इक्कीस बार पाठ करूंगा।

एक जैन श्रावक के लिए कहा गया, जो नमस्कार महामंत्र का धारक होता है, वह जैन है। जो नमस्कार महामंत्र को ही नहीं जानता वह कैसा जैन? इसलिए जैन होने के कारण हमें कम-से-कम इक्कीस बार नमस्कार महामंत्र का पाठ तो अवश्य करना ही चाहिए।

मैं इन चारों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूं ।

तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो त्याग का बहुत बड़ा महत्व है। त्याग संवर है, संवर धर्म है और धर्म ही मोक्ष है। त्याग से धर्म के प्रति जागृति आती है और त्याग की चेतना का विकास होता है।

कहा गया-पंचम गुणस्थान भी तभी आता है जब जीवन त्याग से जुड़ता है। त्याग के बिना श्रावक को पंचम गुणस्थान की भी प्राप्ति नहीं होती।

इसलिए ऊपर लिखित चारों बिन्दुओं के त्याग की आराधना ही, श्रावकत्व की आराधना है और जैनत्व का आधार है।

* कथा बोध

चम्पानगरी में रहने वाला एक ऋद्धिसम्पन्न धनी श्रेष्ठी था। उसके पुत्र का नाम था–अर्हन्नक। अर्हन्नक एक अच्छा तत्त्वज्ञ व धर्मनिष्ठ श्रावक था। वह जीव-अजीव का ज्ञाता और दृढ़ सम्यक्त्वी था। देव, गुरु और धर्म पर उसकी अटल श्रद्धा थी।

एक बार वह व्यापार के निमित्त जलपोत द्वारा समुद्र यात्रा कर रहा था। पोत अपनी गति से चलते-चलते समुद्र के मध्य में पहुंचा। अकस्मात् एक बहुत भयंकर तूफान आया। तूफान आने का कारण था–एक मिथ्यात्वी देव का कुपित होना। जहाज वालों का भयभीत होना सहज था पर 'अर्हन्नक' अविचल रहा। देवकृत उपसर्ग समझ जहाज में एक ओर बैठकर सागारी अनशन लेकर वह धर्मध्यान में लीन हो गया।

उस देव ने विकराल पिशाच का रूप बनाया। अट्टहास करता हुआ अपने रौद्ररूप में 'अर्हन्नक' को सम्बोधित करते हुए वह बोला–'रे अधम! तू अपने यम-नियमों को तिलांजलि दे दे, अन्यथा तुझे मारकर समाप्त करता हूँ और तेरे साथ ही तेरी सारी सम्पति को भी नष्ट कर दूंगा।' यों दो-तीन बार देव के धमकी देने पर भी अर्हन्नक अचल रहा। उत्तर की भाषा में वह बोला–हे देवानुप्रिय! मारना या डुबोना आपके हाथ की बात है, किन्तु धर्म को छोड़ना मेरे हाथ की बात नहीं है। क्योंकि धर्म चोला थोड़ें ही है, जो उतारकर रख दूं। धर्म तो है आत्मा का स्वभाव, वह मुझसे अभिन्न है। फिर मैं उसे छोड़ भी कैसे सकता हूं। अर्हन्नक का उत्तर सुन वह देव और अधिक कुपित हो गया। वह उस विशाल जहाज को अधर आकाश में उठाकर ले गया और बोला–'अब मैं तेरे इस जहाज को समुद्र में फेंकता हूं। बोल, अब क्या कहता है? पर अर्हन्नक के एक रोम में भी भय या कमजोरी नहीं थी। वह ध्यान में लीन हो गया। देवता की चेतावनी से पोत के सभी यात्री कांपने लगे। वे करुण स्वर में बोले–'हम सब धर्म को छोड़ देंगे। तुम हमें शरण दो और पोत को मत डुबाओ।' फिर उन्होंने अर्हन्नक को भी समझाते हुए कहा–अर्हन्नक! तुम इतनी जिद क्यों करते हो, जीवित रहेंगे तो धर्म करते ही रहेंगे इसलिए अभी के लिए कह दो कि मैंने धर्म को छोड़ दिया है। पर अर्हन्नक तो अविचल स्थिर हो ध्यान में लीन था। देव ने अपने ज्ञान से उसके धैर्य को देखा, वह हैरान रह गया। उसने अपनी पराजय मानकर, जहाज को मंजिल तक पहुंचा दिया और देवता ने अर्हन्नक की सराहना करते हुए उसने अपने अपराध की क्षमायाचना की। देव-दर्शन अमोघ होते हैं–यही सोचकर उसने अपनी ओर से दो दिव्य-कुण्डल युगल अर्हन्नक को भेंट किए और अपने स्थान की ओर चला गया। सब लोग इस दृश्य को आश्चर्यपूर्ण आंखों से देखते रहे।

शिक्षा–जो व्यक्ति धर्म में दृढ़ रहता है, उसे कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती।

पाठ- 6 जैन धर्म

भारत में धर्म या दर्शन से संबद्ध दो संस्कृतियां बहुत प्राचीन हैं–1. श्रमण संस्कृति 2. वैदिक संस्कृति। श्रमण संस्कृति जैन और बौद्ध इन दोनों का संवाहक है। 'श्रमण' शब्द-श्रम, सम और उपशम–इन तीनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

❊ धर्म और नाम

राग-द्वेष को जीतने वाले महापुरुष को जिन कहते हैं। जिन भगवान पर आस्था रखने वाले भक्त जैन कहलाते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शिव और विष्णु को इष्ट मानकर चलने वाले भक्त शैव और वैष्णव कहलाते हैं तथा जिनेश्वर भगवान द्वारा जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसका नाम जैनधर्म है। जैसे–बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म, ईसा द्वारा उपदिष्ट धर्म ईसाई धर्म कहलाता है।

❊ धर्म के प्रवर्त्तक

जैन इतिहास में चौबीस तीर्थंकरों की परंपरा है। तीर्थंकर का एक अर्थ है–प्रवचन, भगवद् वाणी। दूसरा अर्थ है–साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ का प्रवर्तन (प्रारंभ)। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। वे किसी दूसरे तीर्थंकर के शिष्य या उत्तराधिकारी नहीं होते। वे स्वयं आदिकर होते हैं। धर्म की आदि या प्रवर्तन करने वाले होते है। भगवान ऋषभ से लेकर भगवान महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकरों ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। वर्तमान में जो धर्मशासन चल रहा है, वह भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित है। तीर्थंकर को भगवान, जिन, अर्हत्, देवाधिदेव आदि भी कहा जाता है।

❊ जैन हिन्दू है या नहीं

कुछ लोग पूछते हैं कि जैन धर्म हिन्दू हैं या नहीं? उसका समाधान है–जैन कोई जाति नहीं है। वह एक धर्म है, तत्त्व-दर्शन है, विचार है। भारतीय जनता ने अनेक धर्मों को जन्म दिया है। उनमें मुख्य दो हैं–श्रमण और वैदिक। श्रमण धर्म पौरुषेय दर्शन के आधार पर चलता है। वैदिक धर्म का आधार है, अपौरुषेय वेद। यह प्रश्न हो कि जैन वैदिक हैं या नहीं? अथवा वैदिक जैन हैं या नहीं? अथवा बौद्ध वैदिक हैं या नहीं? इसका उत्तर सरलता से दिया जा सकता है। जैन वैदिक नहीं और

वैदिक जैन नहीं हैं। दोनों दो भिन्न विचारधाराओं को मानकर चलते हैं, इसलिए दोनों एक नहीं हैं। किन्तु हिन्दू दोनों हैं। हिन्दू एक जाति है, जैन और वैदिक कोई जाति नहीं हैं। वह एक विचार है, दर्शन है। भगवान महावीर के युग में देखने को मिलता है कि वहां एक परिवार में अनेक धर्मों के अनुयायी साथ में रहते थे। पति वैदिक है तो पत्नी जैन या पति जैन है तो पत्नी बौद्ध। यह धर्म का स्वीकरण उनके पारिवारिक जीवन में उलझन पैदा नहीं करता था। वे अपने जीवन में धर्म का परिवर्तन भी करते थे। जैन बौद्ध हो जाता और बौद्ध जैन। जैन वैदिक हो जाता और वैदिक जैन। यह जाति-परिवर्तन नहीं किन्तु विचार-परिवर्तन था। भारतीय जाति में इस विचार-परिवर्तन की पूरी स्वतंत्रता थी।

भगवान ऋषभ

भगवान ऋषभ जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर हुए। उनसे पूर्व न कोई राजतंत्र था और न ही कोई धर्मतंत्र। इन सबका सर्वप्रथम प्रवर्तन भगवान ऋषभ ने किया। अनेक धर्मग्रंथों में इसका प्रमाण प्राप्त होता है।

भगवान ऋषभ से पूर्व यौगलिक युग था। उस यौगलिक युग में मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष हुआ करते थे। वे कल्पवृक्ष मनुष्य के भोजन और भजन के लिए, घर और प्रकाश के लिए, वस्त्र और अलंकार जैसी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए सक्षम थे।

धीरे-धीरे समय के साथ युग बदला और कल्पवृक्ष कम होने लगे। प्रकृत्ति से प्राप्त सहज व्यवस्थाओं में कमी आने लगी और मनुष्यों को भोजन का अभाव होने लगा। उस अभाव की स्थिति में उनमें परस्पर लड़ाई-झगड़े जैसी स्थिति उत्पन्न हुई। वे इन स्थितियों को देख घबरा गए और इकट्ठे हो भगवान ऋषभ के पास आ पहुंचे और कहने लगे–कृपया आप हमारी समस्याओं पर ध्यान दें। अब दिनों दिन हमारी समस्याएं जटिल बनती जा रही हैं। कई लोग अब पेड़ों पर अपना अधिकार जमाने लग रहे हैं। उन्हें समझाने पर वे लड़ाई-झगड़ा करने को भी उतारू हो जाते हैं। इस प्रकार चारों ओर संकट बढ़ता ही जा रहा है और इधर भोजन का अभाव होने लग रहा है। ऐसी स्थिति में हम क्या करे, कृपया आप हमारा मार्गदर्शन करें। भगवान ऋषभ ने उनका निवेदन सुना और उन्हें शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना दी। युगलों ने कहा–हम सब में आप सर्वाधिक समर्थ हैं, अतः आप ही हमारे राजा बनें। भगवान ऋषभ ने उनका मार्गदर्शन किया और राज्यतंत्र की स्थापना की। अपनी राज्य प्रणाली में भगवान ऋषभ ने सज्जनों की रक्षा, असज्जन लोगों पर अनुशासन और आश्रित लोगों के भरण-पोषण आदि का विशेष ध्यान दिया। भगवान ऋषभ ने उन्हें उनकी समसामायिक समस्याओं का समाधान करने के लिए असि, मसि, कृषि आदि अनेक कलाओं और विद्याओं का भी ज्ञान दिया। भगवान ऋषभ ने उन्हें अग्नि का उपयोग करना सिखाया। जिससे वे अनाज को पकाकर खाने लगे और अग्नि के द्वारा विभिन्न आविष्कार करने में निपुण हो गए। भगवान ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र का नाम था–भरत। जिनके नाम से हमारे देश का नाम भारत पड़ा। भगवान ऋषभ ने अपने जीवन का अधिकांश समय इन समसामायिक व्यवस्थाओं के प्रवर्तन में लगा, दीक्षा अंगीकार की और अपने पुत्रों को राज्यभार सौंप धर्मतंत्र का प्रवर्तन किया। भगवान ऋषभ से लोगों ने शाश्वत धर्म का उपदेश सुना और सत्य को जाना। जिससे वे लोग सत्य के द्वारा ही अपनी समस्याओं का शाश्वत समाधान

पाने को अग्रसर हो गए। यह नए युग के प्रारंभ का समय था। इसके पश्चात् सहस्रों-सहस्रों वर्षों में एक-एक तीर्थंकर होते गए। जिन्होंने शाश्वत धर्म के उपदेश द्वारा जनमानस में पुनः एक नई जागृति पैदा की और इस प्रकार जैन धर्म के बाईस तीर्थंकरों का समय बीता।

इन बाईस तीर्थंकरों के समय में रामायण को जैन धर्म के बीसवें तथा इक्कीसवें तीर्थंकर के मध्यकालीन माना गया है और भगवान राम के मोक्ष प्राप्ति का वर्णन भी जैन ग्रंथों में उपलब्ध होता है तथा बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के साथ श्रीकृष्ण का परिवारिक संबंध भी जैन आगमों में वर्णित है।

भगवान पार्श्व

जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका तीर्थ प्रवर्तन भगवान महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुआ। भगवान महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान पार्श्व को है। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीन नियमों के साथ जोड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान नहीं था, वह अब इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक और व्यावहारिक हो गई। भगवान पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय' (पुरुषादानीय) विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान महावीर भगवान पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

भगवान महावीर

भगवान पार्श्व के बाद भगवान महावीर का युग आया। उनका युग क्रियाकाण्डों का युग था। महाभारत की ध्वंस लीला का जनमानस पर अभी असर मिटा नहीं था। जनता त्राण की खोज में भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण में ले जा रहे थे। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान पार्श्व के निर्वाण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नहीं रहा, इसलिए उनका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पा रहा था। भगवान महावीर ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान महावीर ने कहा–'पुरुष! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहाँ त्राण ढूंढ रहा है?' इस आत्मकर्त्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस में फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण-परम्परा ने ईश्वर-कर्त्तृत्व को मान्यता नहीं दी। उस समय कई दार्शनिक धर्म के नाम पर नरक का भय दिखा हिंसा का समर्थन कर रहे थे। वे पशुबलि, दास व्यापार और जातिवाद जैसी सामाजिक रूढ़ियों के समर्थक होने के साथ-साथ इसे बढ़ावा देने को भी अग्रसर थे। आम जनता पर उनकी पकड़ मजबूत थी। किसी में इतना साहस नहीं था कि इसके खिलाफ आवाज उठा सके। इसका विरोध करने वालों को जाति से बहिष्कृत मान लिया जाता और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था।

उस युग में भगवान महावीर का जन्म हुआ। वे अहिंसा धर्म के बहुत ही सूक्ष्म व्याख्याता थे, उन्होंने अहिंसा धर्म का जो सूक्ष्म विवेचन किया, वह इन मिथ्या क्रियाकांडो पर एक तीव्र प्रहार था। उन्होंने धर्म का जो शाश्वत स्वरूप उजागर किया, वह जन चेतना में एक नई दृष्टि प्रदान करने वाला बना।

भगवान महावीर से पूछा गया-'भंते! शाश्वत धर्म कौनसा है?' भगवान ने कहा–किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परितप्त मत करो, उसकी स्वतंत्रता का अपहरण मत करो–यह शाश्वत धर्म है।

❊ जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय

भगवान महावीर की वाणी में कहीं कोई विसंवाद नहीं था। उनका तत्त्व निरूपण सबको एक समान मान्य था। उनके युग में कुछ साधु वस्त्र पहनते थे और कुछ निर्वस्त्र रहते थे। पर इसका कोई भेद नहीं था। जैनशासन कई शताब्दियों तक अखंड रूप में चलता रहा। यह जैनशासन का सौभाग्य है। किंतु जब विभाजन का दौर शुरू हुआ, तब वह अनेक संप्रदायों में विभक्त होता चला गया। सचेलता (वस्त्रसहित) और अचेलता (निर्वस्त्र) के आधार पर एक मूल से दो शाखाएं निकल गई। श्वेताम्बर और दिगम्बर। यह समय वीर निर्वाण के 609 वर्ष पश्चात् (श्वेताम्बर मत के अनुसार) व 606 वर्ष पश्चात् (दिगम्बर मत के अनुसार) का समय माना जाता है।

उसके बाद आगे वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी (850) में चैत्यवास (मूर्तिपूजक) की स्थापना हुई और उसी के साथ उसका समानांतर पक्ष संविग्न या सुविहित मार्गी (अमूर्तिपूजक) नाम से अस्तित्व में आ गया। फिर तो एक-एक संप्रदाय में अनेक गच्छ, उपगच्छ और पंथ बनते गए।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोकांशाह ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। वे गृहस्थावस्था में ही थे। उनकी प्रेरणा व विचारों से कई लोग प्रभावित हो दीक्षित हुए। लोकागच्छ प्रारम्भ हुआ। बाद में यह बाईस टोला नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर स्थानकों की मुख्यता के कारण यही सम्प्रदाय 'स्थानकवासी' नाम से पहचाना जाने लगा।

विक्रम संवत् 1817 में जैनशासन का नवीनतम संप्रदाय तेरापंथ का उद्भव हुआ। इस संप्रदाय के सूत्रधर पुरुष थे–आचार्य भिक्षु। वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में आचार्य रुघनाथजी के पास दीक्षित हुए। 8 वर्षों तक गुरु की सन्निधि में उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया। आगम पढ़ते-पढ़ते उन्हें नया प्रकाश मिला। भगवान महावीर का अहिंसा दर्शन उनके मन को गहराई तक छू गया। उन्होंने विचार क्रांति की और उसी के साथ आचार क्रांति भी। आज उसी की फलश्रुति है–तेरापंथ।

इसी प्रकार दिगम्बरों में भी अनेक संघ हुए–मूल संघ, यापनीय संघ, द्राविड़ संघ, काष्ठा संघ और माथुर संघ। वर्तमान में उसके कई सम्प्रदाय हैं–बीसपंथ, तारणपंथ आदि।

❊ जैन ग्रन्थ

जैन साहित्य आगम और आगमेत्तर–इन दो भागों में बंटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान ने अपने आपको देखा और समूचे लोक को देखा। भगवान ने सत्य का प्रतिपादन किया। वे महान प्रवचनकार थे, उनकी वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र-रूप में गूंथा। आगम के दो विभाग हो गए–सूत्रागम और अर्थागम। भगवान के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उसके आधार पर की गई सूत्र रचना को सूत्रागम कहा गया।

जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। आगम साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते हैं। इसे उस समय की दिव्य भाषा और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग में बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है।

❊ जैन संस्कृति

मुखवस्त्रिका

जैन संस्कृति में मुखवस्त्रिका का उपयोग किया जाता है। साधु खुले मुंह नहीं बोलते, इससे तीन बातें फलित होती है–

(1.) अहिंसा साधु का व्रत है। बोलते समय वायुकायिक जीवों की हिंसा से बचने में मुखवस्त्रिका उपयोगी बनती है।

(2.) मुखवस्त्रिका वाणी संयम का प्रतीक है। वह साधक को यह स्मरण दिलाती है कि उसे अनावश्यक नहीं बोलना है।

(3.) प्रवचन या बातचीत करते समय मुँह से थूक न उछले, इस दृष्टि से मुखवस्त्रिका का उपयोग है।

इन तीन बातों को ध्यान में रखकर श्रावक भी सामायिक की साधना, साधुओं के साथ वार्तालाप और धर्म चर्चा करते समय मुखवस्त्रिका या मुख पर वस्त्र का उपयोग करें तो सहज रूप से यतना और सजगता रखी जा सकती है।

तहत्–श्रावक आपस में बातचीत करते हैं तो 'हां', 'जी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। आचार्य या साधु-साध्वियों के साथ बात करते समय भी कुछ लोग इन्हीं शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। ये शब्द गलत नहीं है, पर संस्कृति के सूचक भी नहीं है। जैन संस्कृति में आचार्य अथवा साधु-साध्वियों से बातचीत के दौरान 'हां', 'जी' के स्थान पर 'तहत्' शब्द का उपयोग किया जाता है।

जैन संस्कार विधि–जन्म, विवाह, मृत्यु आदि प्रसंगों पर तथा जन्मदिन, दीपावली आदि मनाने की विधियों में संयम को महत्त्व मिलें और अनावश्यक हिंसा से बचने का लक्ष्य रहे, यह जैन संस्कृति की अपनी पहचान है। इसी दृष्टि से 'जैन संस्कार विधि' का अपना महत्त्व है। इसमें मुख्यतः तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है-आस्था, संयम और अहिंसा। इन्हीं सिद्धांतों को आदर्श बना हम अपनी सामाजिक और धार्मिक परंपराओं में भी अपनी संस्कृति को महत्त्व दे सकते हैं।

'**जय जिनेन्द्र**' **का प्रयोग**–आस्था अमूर्त्त होती है। उसे रूपायित करने का माध्यम होता है व्यक्ति का व्यवहार। व्यवहार का सम्बन्ध समूह के साथ रहता है। व्यक्ति क्या करता है? क्या कहता है? कैसे करता है? ये प्रश्न सामूहिक जीवन शैली से जुड़े हुए हैं। जहाँ व्यक्ति अकेला हो, वहाँ ये प्रश्न पैदा ही नहीं होते।

कोई व्यक्ति किसी परिचित व्यक्ति से मिलता है, नए व्यक्ति के साथ परिचय करता है, संगोष्ठी में संभागी बनता है या किसी उत्सव में सम्मिलित होता है तो प्रारम्भिक शिष्टाचार के कुछ नियम होते

हैं। इसी प्रकार पत्र-व्यवहार आदि में भी कुछ निर्धारित क्रम होते हैं। उनके माध्यम से यह पहचान की जा सकती है कि व्यक्ति के आस्था केन्द्र कौन हैं?

जैन श्रावक वीतराग को अपना आराध्य या आदर्श मानता है। वीतराग बनना उनका लक्ष्य है। लक्ष्य की सतत स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि उनके मुँह पर बार-बार वीतराग का नाम आता रहे। वीतराग के लिए जिन या जिनेन्द्र शब्द का भी प्रयोग होता है। लक्ष्य को सामने रखने की दृष्टि से एक प्रतीकात्मक शब्द है-जय जिनेन्द्र। जिनेन्द्र अर्थात् वीतराग की जयकार करके व्यक्ति अपनी आस्था को पुष्ट करता है और यह सूचना भी देता है कि वह जैन संस्कृति में विश्वास रखता है। इसलिए पत्राचार एवं शिष्टाचार में '**जय जिनेन्द्र**' इस वाक्य-प्रयोग का महत्त्व है।

जैनत्व का प्रतीक–व्यक्ति के मन को प्रभावित करने वाले अनेक घटकों में एक घटक है–घर का परिवेश । घर में उपासना कक्ष हो, संस्कृति सूचक वाक्य अंकित हो, तीर्थंकरों और आचार्यों के चित्र हो तो हर आगंतुक को बिना बताए ही यह बोध हो जाता है कि अमुक घर किसी जैन का है । साथ-साथ में जनगणना के कॉलम आदि में अपने को जैन लिखने की सजगता व पर्व दिवस पर एवं अन्य विशेष कार्यक्रमों में जैन प्रतीक एवं जैनध्वज का उपयोग होते रहने से हम जैन संस्कृति को और अधिक दर्शा सकते हैं।

❊ जैन पर्व

पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं। जैनों के मुख्य पर्व चार हैं–

1. अक्षय तृतीया
2. महापर्व पर्युषण/दसलक्षण
3. महावीर जयन्ती
4. दीपावली

1. अक्षयतृतीया (आखातीज)

यह जैनों का ऐतिहासिक त्यौहार है। इस दिन जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) ने एक वर्ष चालीस दिन की निराहार तपस्या का पारणा किया था। भगवान ऋषभदेव जब कर्मयुग से धर्मयुग की ओर मुड़े। साधुत्व का संकल्प ग्रहण किया। तब तक लोग साधुओं के आचार-विचार सम्बन्धी कुछ नहीं जानते थे। जैन साधु अपने लिए आहार बनाते नहीं, बनवाते नहीं और बनाया हुआ ग्रहण करते नहीं । वे भोजन-पानी के लिए भिक्षा विधि का उपयोग करते हैं।

भगवान भिक्षा के लिए घर-घर गए। लोग भिक्षाविधि से अज्ञात थे। भगवान के घर पहुंचते ही कोई उन्हें हाथी, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा और तो और कोई गहना आदि भेंट करना चाहते। पर भगवान तो इन सब का त्याग कर चुके थे। वे ये सब चीजे बिना स्वीकारे ही आगे बढ़ गए। लोग निराश हो गए। भला कौन अपने परम-पिता को रोटी जैसी सामान्य वस्तु को भेंट करने का सोचे। परन्तु इस प्रकार पूरा वर्ष व्यतीत हो गया। अभी तक न तो भगवान को खाने को रोटी मिली और न ही पीने को जल। भगवान तटस्थ भाव से विहार कर रहे थे।

विहार करते-करते भगवान राजधानी हस्तिनापुर में पधारे (वर्तमान दिल्ली)। वहां के भव्य राज-प्रासाद में सम्राट बाहुबली (भगवान ऋषभ के पुत्र) का पौत्र श्रेयांसकुमार (भगवान ऋषभ का प्रपौत्र) महल के झरोखे में बैठा था। रात को उसने एक दिव्य स्वप्न देखा। जिसमें वह अपने हाथों से मेरू पर्वत को अमृत से अभिषिक्त कर रहा था। झरोखे (खिड़की) में बैठे-बैठे वह इस अद्‌भुत स्वप्न के बारे में सोच ही रहा था कि सहसा उसकी दृष्टि भगवान ऋषभ पर पड़ी। वे उस समय राजमहल के निकट से गुजर रहे थे। कुमार श्रेयांस अपने परदादा (भगवान ऋषभ) को देखते ही पहचान तो नहीं सका। परन्तु पूर्व भव में भी भगवान से निकट संबंध होने के कारण, उसका भगवान को देखते ही आन्तरिक स्नेह जाग उठा। उसका मन ऊहापोह से भर गया। भगवान को देखते-देखते उसे जाति-स्मृति ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हो गया। वह नंगे पांव भगवान के चरणों की तरफ दौड़ा और वंदन कर भगवान को राज-प्रासाद में भिक्षा ग्रहण करने का निवेदन करने लगा।

दीक्षा के पश्चात् आज तक भगवान ने भोजन-पानी ग्रहण नहीं किया। कुमार का अनुनय-विनय स्वीकार करते हुए भगवान राजमहल में पधारे। लोगों का जमघट भगवान के साथ था। वे भगवान के घर-घर परिव्रजन करने के रहस्य को समझने के उत्सुक थे। वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन, आगामी कृषि का मुहुर्त्त करने के लिए यह दिन शुभ माना जाता था। इस दिन राजा को कृषि संबंधी अनेक उपहार प्राप्त होते थे। कुमार श्रेयांस के महल में इक्षुरस के घड़ों की भेंट आई हुई थी। प्रासुक और एषणीय जान (ग्रहण करने योग्य) कुमार इक्षुरस को अपने हाथ से दान देने को उद्यत हुआ। भगवान पात्र नहीं रखते थे। उन्होंने अपने दोनों हाथों की निश्छिद्र अंजलि को मुंह पर टिका वर्षीतप का पारणा किया। कुमार का मन प्रफुल्लित हो उठा। उसका स्वप्न साकार हो गया तब उस दिन की महत्ता और अधिक बढ़ गई।

वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन आज भी विश्वभर में अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध है। उस दिन की स्मृति में आज भी अनेक जैन अनुयायी सालभर एकान्तर तप कर (एक दिन छोड़कर एक दिन उपवास) वर्षीतप की साधना करते हैं और उसे तपस्या आदि विविध रूपों में बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं।

2. महापर्व पर्युषण/दसलक्षण

पर्युषण जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है। समूचा जैनसंघ बड़ी श्रद्धा के साथ इस महापर्व की आराधना करता है। यह महापर्व भाद्रपद कृष्णा 12 अथवा 13 से भाद्रपद शुक्ला 4 अथवा 5 तक मनाया जाता है। इस महापर्व के अन्तिम दिन पर्वाधिराज भगवती संवत्सरी की आराधना की जाती है। भगवती संवत्सरी महापर्व पर्युषण का मूल दिन है। इसलिए पर्वाधिराज है। शेष सात दिन इसकी महत्ता को और अधिक बढ़ाने के लिए व विशेष धर्माराधना की तैयारी के लिए पूर्वाचार्यों द्वारा नियत किए गए हैं। इसलिए इसे आष्टान्हिक पर्व भी कहते है। अर्थात् आठ दिनों तक मनाया जाने वाला पर्व।

पर्युषण का अर्थ है–सांवत्सरिक दिन अर्थात् वर्ष में आने वाला एक महान दिन। इस दिन उपवास करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना, क्षमायाचना करना तथा विशेष धर्माराधना करना अनिवार्य होता है। एक तरह से भगवती संवत्सरी महापर्व के दिन क्षमा के आदान-प्रदान का अंत:करण से

महास्नान होता है। इस महास्नान में स्नान किए बिना, शुद्धि किए बिना सम्यक्त्वी का सम्यक्त्व, श्रावक का श्रावकत्व और साधु का साधुत्व तक भी नष्ट हो सकता है। इसलिए जैन समाज के लिए यह महाकुंभ स्नान का पर्व भी है।

दिगम्बर परम्परा में यही पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में से एक-एक धर्म की विशेष आराधना की जाती है। इसलिए इसे 'दस लक्षण पर्व' कहा जाता है।

3. महावीर जयन्ती

संसार के महापुरुषों में भगवान महावीर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वे जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन, महाराजा सिद्धार्थ की पत्नी महारानी त्रिशला के गर्भ से भगवान का जन्म हुआ। भगवान के जन्म के साथ राज्य में खूब ऐश्वर्य की वृद्धि हुई। हर क्षेत्र में वर्धमानता आई। इसलिए प्रभु का जन्म नाम वर्धमान रखा गया। आगे भगवान ने अपने साधना काल में अनेक मारणांतिक कष्टों को वीर-वृत्ति से सहन किया इसलिए वे 'महावीर' कहलाए। प्राय: हर चैत्र शुक्ला 13 को जैन लोग एकत्रित हो, महावीर जयन्ती को बड़े ही विराट रूप में उत्साह, उमंग व उल्लास के साथ मनाते हैं। इस दिन अनेक प्रांतीय सरकार व केन्द्रीय सरकार महावीर जयन्ती का अवकाश रखती है।

4. दीपावली

दीपावली का सम्बन्ध भगवान महावीर के निर्वाण से है। कार्तिक अमावस्या को भगवान का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों और राजाओं ने प्रकाश किया था, उसी का अनुसरण दीप जलाकर किया जाता है। अन्य जो प्रसंग कहे जाते हैं, वे दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल जनश्रुति पर आधारित हैं, किन्तु इस त्यौहार का जो सम्बन्ध जैनियों से है, वह इतिहास सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि वेला में भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी। पुराण में भी यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के संबंध में यही प्राचीनतम प्रमाण है।

❊ जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांत

1. सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर विशेष नहीं, यह संसार अनादि-अनन्त है।
2. धर्म की आराधना में जात-पात, स्त्री-पुरुष आदि का कोई भेद नहीं।
3. आत्मा अपने सुख-दुख की कर्त्ता स्वयं है। वह स्वयं के द्वारा स्वयं ही अपने कर्मों का बंधन करती है और उसका फल भोगती है। इसमें किसी ईश्वर विशेष का हस्तक्षेप नहीं।
4. साधना के द्वारा प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है।

5. जैनधर्म पूर्वजन्म-पुनर्जन्म को मानता है, वह आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व में विश्वास करता है, इसलिए वह आस्तिकवादी है।
6. अहिंसा धर्म का मूल है–आक्रामक नीति, मद्यमांस, शिकार आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों की सख्तवर्जना।
7. जैन धर्म सत्य की खोज और उसकी व्याख्या का धर्म है, इसमें न क्रियाकांड है और न रूढ़ मान्यताएं।
8. जैनधर्म त्याग, संयम और अहिंसा प्रधान धर्म है, इसमें आत्मानुशासन, आत्म कर्तृत्व व अपरिग्रहवाद पर बल दिया जाता है।
9. जैन दर्शन किसी भी वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखता है इसलिए वह अनेकांतवादी है। किसी वाद या तथ्य को वह सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है।

पाठ-7 श्रमण भगवान महावीर

संसार के महापुरुषों में भगवान महावीर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। वे जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हुए।

*** जन्म**

आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व बिहार (भारत) के वैशाली गणतंत्र में 'क्षत्रिय कुंडग्राम' नाम का एक भव्य नगर था। उस नगर के अधिपति क्षत्रिय सिद्धार्थ की पत्नी महारानी त्रिशला ने पश्चिम रात्रि में 14 महास्वप्न देखें।

स्वप्न देख उनका मन उल्लास से भर गया। उन्हें अपने स्वप्नों पर आश्चर्य हो रहा था। आज तक उसने इतने महत्त्वपूर्ण स्वप्न कभी नहीं देखे थे। वे महाराज सिद्धार्थ के पास गई। उन्हें स्वप्नों की बात सुनाई। सिद्धार्थ हर्ष और विस्मय से विस्मित हो उठे।

सिद्धार्थ ने स्वप्न-पाठकों को आमंत्रित किया। स्वप्न पाठकों ने स्वप्नों का अध्ययन कर कहा– 'महाराज! देवी के पुत्र-रत्न होगा। ये स्वप्न उसके धर्म-चक्रवर्ती होने की सूचना दे रहे हैं। महाराज ने प्रतिदान दे स्वप्न-पाठकों को विदा किया।

देवी त्रिशला की कुक्षि में प्रभु का जीव अवस्थित होने के बाद से राज्य में धन-धान्य की अप्रत्याशित वृद्धि हुई। समूचा जनपद हर्ष-विभोर हो उठा। इस प्रसन्न वातावरण में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि में प्रभु का जन्म हुआ।

*** नगर में उत्सव**

राजा सिद्धार्थ ने मुक्त हृदय से दस दिन का उत्सव मनाया। प्रजा के आनंद व उत्साह की सीमा नहीं रही। क्षत्रिय कुंडग्राम की सजावट इंद्रपुरी को भी मात कर रही थी। नागरिकों का कर माफ कर दिया गया। कैदियों को बंधन मुक्त कर दिया गया। नामकरण के दिन पारिवारिक जनों का प्रीतिभोज रखा गया। समस्त पारिवारिक लोगों ने नवजात शिशु को देखकर आशीर्वाद दिया। नाम की परिचर्चा में राजा सिद्धार्थ ने कहा–'इसके गर्भकाल में धन-धान्य की अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी,

अतः बालक का नाम वर्धमान रखा जाए।' सभी ने बालक को इसी नाम से पुकारा । बाद में प्रभु के अन्य नाम–महावीर, श्रमण, ज्ञातपुत्र, विदेह, वैशालिक, सन्मति, महावीर, काश्यप, देवार्य आदि भी प्रचलित हुए।

* बाल क्रीड़ा

कुमार वर्धमान महल के उद्यान में बाल क्रीड़ा करने लगे। एक बार वे अपने समवयस्क साथियों के साथ 'आमलकी' खेल खेलने लगे। उस समय सौधर्मेन्द्र ने अपनी सभा में बालक वर्धमान के बुद्धि कौशल व साहस की प्रशंसा की और कहा–' उनके साहस का मुकाबला मनुष्य और तिर्यंच क्या, देव शक्ति भी नहीं कर सकती।' एक देव को इन्द्र की इस बात में अतिशयोक्ति दिखाई दी। वह बालक वर्धमान को पराजित करने के लिए नीचे आया, जहां वे खेल रहे थे। वर्धमान उस समय साथी बालकों के संग वृक्ष पर चढ़े हुए थे। वह देव भयंकर सर्प का रूप बना कर उसी वृक्ष की एक शाखा पर लिपट गया और फुफकार करने लगा। सारे बच्चे सर्प को देखकर चिल्ला उठे –' बचाओ! बचाओ! जहरीला सर्प पेड़ पर है।' वर्धमान थोड़े आगे बढ़े और उस सर्प को पकड़ कर जागरूकतापूर्वक सात तल तक फेंक दिया। देव ने सोचा–मैं इसे छलने में समर्थ नहीं हूं। वह वंदन कर वापस चला गया।

* पाठशाला में

वर्द्धमान जब आठ वर्ष के हुए तब महाराज सिद्धार्थ उनको पाठशाला में ले गए। शक्रेन्द्र को अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि राजा त्रिज्ञानज्ञ (मति, श्रुत, अवधि) प्रभु को पढ़ाने के लिए पाठशाला ले जा रहे हैं। भला वह कलाचार्य इनको क्या पढ़ाएगा? किन्तु लोगों को पता नहीं है। शक्रेन्द्र स्वयं आए, पाठशाला के उपाध्याय एक पट्ट पर आसन लगाकर बैठे थे। कुमार वर्धमान को नीचे बिठाया गया। अध्ययन प्रारम्भ होने ही वाला था कि इन्द्र एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर उपाध्याय के पास पहुंचे और व्याकरण सम्बन्धी जिज्ञासाएं प्रस्तुत की। उपाध्यायजी प्रश्न सुनकर चकरा गए। वे हतप्रभ हो आकाश की ओर देखने लगे। तब वृद्ध विप्र ने बालक वर्धमान से भी वे ही सवाल पूछे, वर्धमान ने सहज भाव से सारे प्रश्नों के उत्तर दे दिए। उत्तर सुनकर कलाचार्यजी विस्मित हो उठे। सोचने लगे–'इसे मैं क्या पढ़ाऊंगा? यह तो स्वयं दक्ष है।' उन्होंने तत्काल अपना आसन छोड़ा और नीचे आ बैठे। इन्द्र ने अपना रूप बदलकर वर्धमान का परिचय दिया। सभी प्रसन्न होकर वर्धमान को पुनः राजमहल में ले आए। इनके मुख से निकले हुए वचन 'ऐन्द्र व्याकरण' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

* विवाह

वर्धमान के तारुण्य में प्रवेश करते ही सिद्धार्थ उनके विवाह की तैयारी करने लगे। वर्धमान को विवाह के लिए तैयार करने का काम उनके युवा मित्रों को सौंपा गया। एक दिन उनकी मित्रों से लम्बी बहस चल पड़ी। विवाह के पक्ष और विपक्ष में दलीलें दी जाने लगी। इसी बीच माता त्रिशला ने वर्धमान से आकर कहा–'विवाह करने की तेरी इच्छा नहीं है, किन्तु मेरी है। ऐसा मानकर तुझे विवाह करना पड़ेगा।'

वर्धमान कुमार अपने भोगावली कर्मों की स्थिति देखकर माताजी की मनुहार पर मौन बने रहे। माताजी ने तुरन्त घोषणा कर दी कि वर्धमान का विवाह होगा।

महाराज सिद्धार्थ ने बसंतपुर नगर के राजा समरवीर की पुत्री यशोदा के संग परम हर्षोल्लास के साथ उनका विवाह कर दिया। अनासक्त भाव से भोग भोगते हुए वे समय बिताने लगे। यशोदा से एक पुत्री भी उत्पन्न हुई। उसका नाम प्रियदर्शना रखा गया। युवा होने पर उसका विवाह राजकुमार जमालि से हुआ।

दिगम्बर परम्परा में वर्धमान के विवाह की बात नहीं है। वे भगवान को बाल ब्रह्मचारी मानते हैं।

* दीक्षा

महावीर के पिता सिद्धार्थ व माता त्रिशला भगवान पार्श्व की परंपरा के श्रमणोपासक थे। महावीर प्रारंभ से विरक्त थे, पर माता-पिता के अत्यंत स्नेह के कारण दीक्षा की बात को प्रकट नहीं कर रहे थे। उन्होंने गर्भ में ही यह निर्णय कर लिया था कि माता-पिता के रहते वे दीक्षा नहीं लेंगे।

महावीर अठाईस वर्ष के हुए थे उस समय अपना आयुष्य निकट देख महावीर के माता-पिता ने अनशन स्वीकार कर समाधिमरण प्राप्त किया। माता-पिता के स्वर्गवास के बाद महावीर ने अपने बड़े भ्राता नंदीवर्धन से कहा–'भाईजी! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिए।'

नंदीवर्धन–'भाई! यह तुम क्या कह रहे हो। अभी माता-पिता के वियोग के दुःख को भूला ही नहीं हूं, तुम भी घर छोड़ने की बात कर रहे हो। जब तक हमारा मन स्वस्थ न हो जाए तब तक जाने की बात मत करो ।'

महावीर–'मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं चाहता, पर आप मेरी गृहवास की अवधि तो निश्चित कर दें।'

नंदीवर्धन–'कम से कम दो वर्ष तक।'

महावीर दो वर्ष तक गृहवास में और रहे। इस अवधि में उन्होंने त्यागमय जीवन जीया। वे रात्रि भोजन नहीं करते, अचित्त जल पीते, भूमि पर सोते और ब्रह्मचर्य का पालन करते। काय प्रक्षालन में भी अचित्त जल का उपयोग करते । बेले-बेले तप करते। एक वर्ष पूर्ण होने पर नौ लोकांतिक देव सामूहिक रूप से महावीर के पास आए और नमस्कार करके निवेदन किया–'भगवन्! अब आप जनहित के लिए दीक्षा अंगीकार करें और धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करें।'

महावीर ने वर्षीदान प्रारंभ किया। देव सहयोग से प्रतिदिन एक प्रहर तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते। इस तरह पूरे वर्ष तीन अरब अठयासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया। वर्षीदान के बाद महावीर के काका सुपार्श्व व भाई नंदीवर्धन ने महावीर के दीक्षा महोत्सव की तैयारियां शुरू कर दी। महावीर ने स्नान किया, चंदन आदि का लेप कर सुंदर परिधान व अलंकार धारण किए। देव-निर्मित भव्य सुखपालिका में महावीर बैठे। सैकड़ों देवी-देवताओं व मनुष्यों ने संयुक्त रूप से उसे उठाया। सुखपालिका ज्ञात खंड वन में अशोक वृक्ष के नीचे रखी गई।

वहां सुखपालिका से उतर कर महावीर ने अपने समस्त वस्त्रालंकार उतार दिए। मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी, दिन का तीसरा प्रहर, पूर्वाभिमुख महावीर ने पंचमुष्ठि लोच किया। शक्रेन्द्र ने केशों को थाल में लिया और उन्हें क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर दिया।

महावीर ने 'णमो सिद्धाणं' कहते हुए देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के बीच यह प्रतिज्ञा की ''**सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं**'' अब से मेरे लिए सब पाप कर्म अकरणीय हैं। यह कहते हुए उन्होंने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। दीक्षित होते ही उन्होंने अभिग्रह ग्रहण किया–'केवल ज्ञान होने तक व्युत्सृष्ट देह रहूंगा अर्थात् देव, मनुष्य तथा तिर्यंच (पशु जगत्) जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग समुत्पन्न होगा उसको समभाव पूर्वक सहन करूंगा।'

❊ उपसर्ग व कष्ट प्रधान साधना

भगवान महावीर के छद्मस्थ काल की साधना उपसर्ग, कष्ट व घटना प्रधान रही। प्राचीन आचार्यों के अभिमत में तेईस तीर्थंकरों के कर्म एक तरफ और भगवान महावीर के कर्म एक तरफ। इसमें भी भगवान महावीर के कर्म अधिक थे। इस कारण भगवान महावीर की साधना बड़ी कष्टपूर्ण व प्रखर रही।

आचारांग सूत्र व कल्प सूत्र में भगवान की साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है। दीक्षित होने के बाद महावीर ने देव दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं रखा। लगभग तेरह मास तक वस्त्र भगवान के कंधे पर रहा। उसके बाद उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्ण रूप से अचेल हो गए।

दीक्षा के समय उनके शरीर पर जो सुगंधित विलेपन किया गया था, उससे आकृष्ट होकर भ्रमर व सुगंध प्रेमी कीट भगवान के शरीर पर चार माह तक मंडराते रहे, मांस को नोचते रहे, रक्त पीते रहे, पर महावीर ने उफ् तक नहीं किया।

साधना काल में प्रभु कभी निर्जन झोंपड़ी, कभी प्याऊ या कुटिया, कभी खंडहर या धर्मशाला में, कभी यक्ष मंदिर व श्मशान में निवास करते। शीत काल में भयंकर ठंड के समय दूसरे साधक सर्दी से बचने के लिए गर्म स्थानों में रहते, कपड़े ओढ़ते, पर महावीर उस सर्दी में भी खुले बदन, खुले स्थान में खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नहीं करते। अपनी बाहुओं को नहीं समेटते। खुले शरीर होने से सर्दी, गर्मी के अलावा दंश-मशक (मच्छर) का भी पूरा परीषह रहता। कभी विषैले सर्प आदि काक, गिद्ध आदि तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षियों के प्रहार भी सहन करते। कभी-कभी लोग उन्हें चोर या जासूस समझ कर पीटते, अपमानित करते। भयंकर मारणांतिक दैवीय उपसर्गों (एक-एक उपसर्ग प्राण हरण करने वाले) को भी भगवान समभाव से सहते। साधनाकाल में महावीर ने प्रायः नींद नहीं ली। जब उन्हें निद्रा सताती वे खड़े हो जाते या कुछ समय चंक्रमण कर नींद को उड़ा देते थे। विहार के प्रसंग में भगवान अगल-बगल व पीछे मुड़ कर नहीं देखते। मार्ग में वे किसी से बोलते नहीं थे। प्रायः तप में रहते। पारणे में जो रूखा-सूखा, ठंडा-बासी भोजन मिल जाता उसे वे अनासक्त भाव से ग्रहण कर लेते। रोग उत्पन्न होने पर औषध सेवन नहीं करते। आंख में रजकण पड़ने पर भी उसे निकालने तक की इच्छा नहीं रखते। शरीर को कभी भी नहीं खुजलाते। इस प्रकार देह से विदेह होते हुए प्रतिक्षण प्रतिपल जागरूक व सजग रहकर ध्यान व कायोत्सर्ग से अपनी आत्मा को भावित करते।

✲ कैवल्य-प्राप्ति

बारह वर्ष साढ़े छह मास तक विचरते-विचरते प्रभु जंभिय ग्राम के बाहर पधारे। वहां ऋजुबालुका नदी के किनारे श्यामाक गृहपति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे प्रभु ध्यानारूढ़ हो गए। बेले का तप, गोदोहिका आसन, वैशाख शुक्ला दशमी, दिन का अंतिम प्रहर, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र, क्षपक श्रेणी का आरोहण, शुक्ल ध्यान का द्वितीय चरण, शुभ भाव, शुभ अध्यवसाय में भगवान ने बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का समूल नाश किया तथा अवशिष्ट तीन घाति कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अंतराय कर्म का क्षय कर तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान व केवल दर्शन को प्राप्त किया। मूर्त्त-अमूर्त सभी पदार्थों को भगवान अपने ज्ञान से जानने लगे।

भगवान महावीर का छद्मस्थ काल बारह वर्ष छह माह पन्द्रह दिन रहा। इस काल में उनकी तपस्या इस प्रकार थी–

✲ षट्मासी	एक	✲ पांच दिन कम षट्मासी	एक
✲ चातुर्मासिक	नौ	✲ त्रिमासिक	दो
✲ सार्ध द्विमासिक	दो	✲ द्विमासिक	छह
✲ सार्ध मासिक	दो	✲ मासिक	बारह
✲ पाक्षिक	बहत्तर	✲ भद्र प्रतिमा	एक(दो दिन)
✲ महाभद्र प्रतिमा	एक (चार दिन)	✲ सर्वतोभद्र प्रतिमा	एक(दस दिन)
✲ तेला	बारह	✲ बेला	नौ सौ उनतीस

भगवान ने बेले के दिन दीक्षा ली थी इस कारण साधनाकाल में एक उपवास को और जोड़ देते हैं। उनकी तपस्या ग्यारह वर्ष छह माह पच्चीस दिन (4166 दिन) हुई। पारणा अवधि ग्यारह माह उन्नीस दिन (346 दिन) थी। भगवान की सारी तपस्या चौविहार (निर्जल) थी। कई ऐसा भी मानते हैं कि भगवान ने चोला (चार दिन) आदि की तपस्या भी की थी।

✲ प्रथम देशना

केवली बनने के बाद चौसठ इन्द्रों व अनगिनत देवी-देवताओं ने भगवान का केवल महोत्सव मनाया। देवों ने समवसरण की रचना की। इस समवसरण में केवल देवी-देवता थे। भगवान ने प्रवचन दिया, पर चतुर्विध संघ की स्थापना नहीं हो सकी। देवों ने प्रभु के प्रवचन को सराहा, पर महाव्रत व अणुव्रत दीक्षा नहीं ले सके क्योंकि देवों में इसे प्राप्त करने की अर्हता नहीं होती। ऋजुबालुका नदी के किनारे जंगल में देशना होने से कोई मनुष्य नहीं आ सका। तीर्थंकर का उपदेश कभी निष्फल नहीं होता। उनके प्रथम प्रवचन में ही संघ की स्थापना हो जाती है। भगवान महावीर की प्रथम देशना निष्फल रहने से इसे दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य माना गया। कई आचार्य मानते हैं कि प्रथम प्रवचन में कुछ व्यक्ति उपस्थित हुए फिर भी कोई व्रती नहीं बन सका।

❊ गणधरों की दीक्षा

जंभिय गांव से विहार कर भगवान महावीर मध्यम पावा पधारे। वहां धनाढ्य विप्र सोमिल ने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया जिसमें अनेक उच्च कोटि के विद्वान् समागत थे। इनमें ग्यारह महापंडित अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ वहां समुपस्थित थे।

मध्यम पावा में देवों ने समवसरण की रचना की। शहर के नर-नारियों के झुंड के झुंड पहुंचने लगे। गगन मार्ग से देव-देवियों के समूह आने लगे। इन्हें देखकर पंडित बड़े प्रसन्न हुए और बोले– 'देखो, ये देवता हमारे यज्ञ में आहुति देने आ रहे हैं।' कुछ ही क्षणों में यज्ञ मंडप के ऊपर से देवों के आगे चले जाने पर वे सशंकित हुए। जब उन्होंने इसका पता लगाया तो जानकारी मिली कि वे सर्वज्ञ महावीर के समवसरण में जा रहे हैं। पंडितों ने इसे अपना अपमान समझा। सबसे बड़े पंडित इंद्रभूति गौतम ने सोचा–'लगता है महावीर पाखंडी है, ऐन्द्रजालिक है । यह लोगों को भरमा रहा है। चर्चा में मेरे सामने नहीं टिक पाएगा। मैं इसे पराजित करके ही दम लूंगा।' ऐसा निर्णय कर इंद्रभूति गौतम अपने पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के समवसरण में आए। समवसरण में प्रभु को देखते ही गौतम विस्मित हो गए। निकट आते ही भगवान ने 'गौतम' कहकर संबोधित किया तो वे चकित रह गए फिर सोचा–'मेरे पांडित्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है। मुझे कौन नहीं जानता?'

गौतम के वर्षों से एक संशय जमा हुआ था, जिसे उन्होंने किसी के सामने नहीं कहा। उस संदेह को प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा–'गौतम! तुम्हारे मन में आत्मा के अस्तित्व के बारे में शंका है।' इंद्रभूति गौतम चौंकें और समझ गए कि ये वास्तव में सर्वज्ञ है। प्रभु ने विस्तार से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया। इन्द्रभूति की शंका मिट गई और अपने पांच सौ शिष्यों के साथ उन्होंने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की, शिष्यत्व ग्रहण किया।

ग्यारह ही गणधरों के कितने शिष्य थे, क्या शंका थी, इसका विवरण इस प्रकार है–

गणधर	शिष्य	शंका
1. इन्द्रभूति	500	आत्मा का अस्तित्व
2. अग्निभूति	500	पुरुषाद्वैत
3. वायुभूति	500	तज्जीव-तच्छरीरवाद
4. व्यक्त	500	ब्रह्ममय जगत्
5. सुधर्मा	500	जन्मान्तर
6. मंडित	350	आत्मा का संसारित्व
7. मौर्यपुत्र	350	देव और देवलोक
8. अकंपित	300	नरक और नारकीय जीव
9. अचलभ्राता	300	पुण्य-पाप
10. मेतार्य	300	पुनर्जन्म
11. प्रभास	300	मुक्ति

❊ तीर्थ स्थापना

मध्यम पावा के समवसरण में ग्यारह महापंडितों सहित 4411 ब्राह्मणों ने मुनि दीक्षा स्वीकार की। इन ग्यारह महापंडितों को भगवान ने त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से उन्हें चौदह पूर्व सहित द्वादशांगी का ज्ञान हो गया और वे गणधर कहलाए। राजकुमारी चंदनबाला आदि साध्वियां बनी। शंख, शतक आदि ने श्रावक धर्म तथा सुलसा आदि ने श्राविका धर्म को स्वीकार किया। यह समय वैशाख शुक्ला एकादशी का था। इस प्रकार चार तीर्थ की स्थापना कर प्रभु महावीर भाव तीर्थंकर कहलाए।

❊ अंतिम प्रवचन

भगवान केवली पर्याय में उनतीस वर्ष छह महीना पन्द्रह दिन तक पूरे भूमंडल पर विचरते रहे। लाखों लोगों को भगवान से मार्गदर्शन मिला, जीवनदर्शन मिला।

कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में भगवान ने अन्तिम अनशन कर लिया और अंतिम देशना देने लगे। सेवा में समागत अनेक श्रद्धालु तथा चतुर्विध संघ को अनेक शिक्षाएं फरमाई। अन्तिम दिन कार्तिक कृष्णा अमावस्या की संध्या में प्रभु ने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को वेद-विद्वान् देव शर्मा को समझाने के लिए उनके यहां भेजा। गौतम स्वामी भगवान की आज्ञा से वहां चले गए तथा उनसे तात्त्विक चर्चा की।

भगवान के दो दिन का अनशन हुआ। इस दौरान उन्होंने 55 अध्ययन पुण्य फल विपाक और 55 अध्ययन पापफल विपाक संबंधी कहे। बीच में कई तरह के प्रश्नोत्तर चलते रहे । उसके बाद 36 अध्ययन कहे जो आज उत्तराध्ययन के रूप में प्रस्तुत हैं। भगवान ने 16 प्रहर तक देशना प्रदान की।

❊ महावीर के प्रमुख सिद्धांत

भगवान महावीर ने सर्वज्ञ होते ही तत्कालीन रूढ़ धारणाओं पर प्रबल प्रहार किया। उन्होंने प्रचलित मिथ्या मान्यताओं का आमूलचूल निरसन किया। उनके प्रमुख सिद्धांत निम्नांकित हैं–

❊ जातिवाद का विरोध

स्वयं अभिजात कुल के होते हुए भी उन्होंने जातिवाद को अतात्त्विक घोषित किया। उनका स्पष्ट उद्घोष था–मनुष्य जन्म से ऊंचा-नीचा नहीं होता। केवल कर्म ही व्यक्ति के ऊंच या नीच का मापदण्ड है। उन्होंने अपने तीर्थ में शूद्रों को भी सम्मिलित किया। लोगों को यह अटपटा जरूर लगा, किन्तु भगवान ने स्पष्ट कहा–किसी को जन्मना नीच मानना हिंसा है। भगवान की इस क्रांतिकारी घोषणा से लाखों-लाखों पीड़ित, दलित, शूद्र लोगों में आशा का संचार हुआ। भगवान के समवसरण में सभी लोग बिना किसी भेदभाव के सम्मिलित होकर प्रवचन सुनते थे।

❊ धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई

भगवान से पूछा गया–'आप द्वारा प्रतिपादित धर्म को कौन ग्रहण कर सकता है?' उत्तर में प्रभु ने कहा–'मेरे द्वारा निरूपित शाश्वत धर्म को हर व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। कोई बन्धन नहीं है।

जाति, वर्ग या चिह्न धर्म को अमान्य हैं। शाश्वत धर्म को स्वयं में टिकाने के लिए हृदय की शुद्धता जरूरी है। अशुद्ध हृदय में धर्म नहीं टिकता। धर्म के स्थायित्व के लिए पवित्रता अनिवार्य है।

❊ पशु बलि का विरोध

यज्ञ के नाम पर होने वाले बड़े-बड़े हिंसाकांडों के विरुद्ध भी महावीर ने आवाज उठाई। निरीह मूक पशुओं की बलि देकर धर्म कमाने की प्रचलित मान्यता को मिथ्यात्व कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा–'हिंसा पाप है। उससे धर्म करने की बात खून से सने वस्त्र को खून से ही साफ करने का उपक्रम है। हिंसा से बचकर ही धर्म किया जा सकता है।'

❊ स्त्री का समान अधिकार

भगवान् महावीर ने स्त्री को पुरुष के समान अपने संघ में दीक्षित किया। उन्हें आत्म-विकास के सारे सूत्र प्रदान किए। उनकी दृष्टि में स्त्री, पुरुष केवल शरीर के चिह्नों से है। आत्मा केवल आत्मा है। स्त्री या पुरुष के मात्र लिंग से कोई फर्क नहीं पड़ता। आत्म विकास का जहां तक सवाल है, स्त्री पुरुषों के समकक्ष है। मातृ-शक्ति को धर्म से वंचित करना बहुत बड़ा अपराध है, धार्मिक अंतराय है। भगवान महावीर के इस नूतन चिंतन ने एक नई क्रांति को जन्म दिया। उस समय के प्रचलित बौद्ध, वैदिक, सांख्य आदि धर्म संगठनों में स्त्री को दीक्षित करना मान्य नहीं था। साधना के क्षेत्र में स्त्री जाति को समान अधिकार देना, भगवान महावीर की महान देन है।

जन-भाषा में प्रतिबोध

भगवान महावीर ने अपना प्रवचन सदैव जनभाषा में दिया। मगध और उसके आस-पास के लोग अर्ध मागधी भाषा का प्रयोग करते थे। भगवान ने भी अपना प्रवचन अर्ध-मागधी में ही दिया। जनसाधारण की भाषा बोलकर वे जनता के बन गए। जैनों के मूल आगम आज भी अर्ध मागधी भाषा में उपलब्ध हैं।

❊ दास प्रथा का विरोध

भगवान महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया था। उन्होंने दास प्रथा को धर्मविरुद्ध घोषित किया। किसी व्यक्ति को दास के रूप में खरीदना, अपना गुलाम बनाकर रखना हिंसा है। हर व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वस्थ समाज का लक्षण है। किसी को दबाकर रखना उसके साथ अन्याय है। उन्होंने स्पष्ट कहा–'मेरे संघ में सब समान होंगे। कोई दास नहीं है, एक दूसरे का कार्य, एक दूसरे की परिचर्या निर्जरा भाव से की जाएगी, दबाव से नहीं । दास-प्रथा सामूहिक जीवन का कलंक है।'

❊ अपरिग्रह

अपरिग्रह का उपदेश महावीर की महान देन है। उन्होंने अर्थ के संग्रह को अनर्थ का मूल घोषित किया। धार्मिक प्रगति में अर्थ को बाधक बताते हुए मुनिचर्या में उसका सर्वथा त्याग अनिवार्य बतलाया। श्रावक धर्म में उस पर नियंत्रण करना आवश्यक बतलाया।

भगवान महावीर के जितने श्रावक हुए, उनके पास उस समय में जितना परिग्रह था उससे अधिक परिग्रह का उन्होंने त्याग कर दिया था। वर्तमान परिग्रह से अधिक परिग्रह का संग्रह किसी श्रावक ने नहीं रखा। अधिक परिग्रह का विसर्जन कर वर्ष के अन्त में परिग्रह का परिमाण बराबर कर लेते थे। उनका उपदेश था कि संग्रह समस्याओं को पैदा करता है। धार्मिक व्यक्ति जितना परिग्रह से हल्का रहता है, उतना ही अधिक अध्यात्म में प्रगति कर सकता है।

❊ अनेकान्त

अहिंसा के विषय में भगवान महावीर के सूक्ष्मतम दृष्टिकोण का लोहा सारा विश्व मानता है। उनकी दृष्टि में शारीरिक हिंसा के अतिरिक्त वाचिक तथा मानसिक कटुता भी हिंसा है। सूक्ष्मतम अहिंसा के दृष्टिकोण को साधना का विषय बनाना अन्य दार्शनिकों के लिए आश्चर्य का विषय था।

वैचारिक अहिंसा को विकसित करने के लिए उन्होंने स्याद्वाद (अनेकान्त) का प्रतिपादन किया। उनका मानना था कि हर वस्तु को एकांगी पकड़ना ही आग्रह है, सत्य का विपर्यास है। अनन्तधर्मा वस्तु के एक धर्म को मान्यता देकर शेष धर्मों को नकारना स्वयं में अपूर्णता है। हर वस्तु का अपेक्षा से विवेचन करना ही यथार्थ को पाना है। जैसे–घड़े को घड़े के रूप में कहना उसके अस्तित्व का बोध है। घड़े को पट के रूप में नकारना नास्तित्व का बोध है। एक ही घड़े के अस्तित्व और नास्तित्व, दो विरोधी धर्मों का समावेश करने का नाम ही स्याद्वाद है। इस प्रकार हर वस्तु अपनी-अपनी स्थिति में अस्तित्व-नास्तित्व आदि अनेक धर्मों वाली होती है। स्याद्वाद को मान लेने के बाद एकान्तिक आग्रह स्वतः समाप्त हो जाता है। वैचारिक विग्रह का फिर कहीं अवकाश नहीं रहता।

❊ प्रभु का परिवार

❊ गणधर	11
❊ केवलज्ञानी	700
❊ मनःपर्यवज्ञानी	500
❊ अवधिज्ञानी	1,300
❊ वैक्रिय लब्धिधारी	700
❊ चतुर्दश पूर्वी	300
❊ चर्चावादी	400
❊ साधु	14,000
❊ साध्वी	36,000
❊ श्रावक	1,59,000
❊ श्राविका	3,18,000

❊ पंच कल्याणक

	तिथि	स्थान	नक्षत्र
❊ च्यवन	– आषाढ़ शुक्ला 6	प्राणत	उत्तरा फाल्गुनी
❊ जन्म	– चैत्र शुक्ला 13	क्षत्रिय कुंड	उत्तरा फाल्गुनी
❊ दीक्षा	– मिगसर कृष्णा 10	क्षत्रिय कुंड	उत्तरा फाल्गुनी
❊ केवलज्ञान	– वैशाख शुक्ला 10 ऋजुबालुका नदी का तट	जंभिय गांव के बाहर	उत्तरा फाल्गुनी
❊ निर्वाण	– कार्तिक कृष्णा 15	पावापुरी	स्वाति

पाठ-8 तेरापंथ

जैन शासन का नवीनतम सम्प्रदाय है–तेरापंथ। यह अपने एक आचार, एक विचार, समान अनुशासन और एक नेतृत्व के लिए प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के सूत्रधार पुरुष थे–आचार्य भिक्षु। वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में आचार्य रुघनाथजी के पास वि. सं. 1808 में दीक्षित हुए। आठ वर्ष तक वे अपने दीक्षा गुरु के साथ रहे। उनकी मेधा बड़ी विलक्षण थी। उन्होंने जैन आगमों का गहन अध्ययन किया। आगम पढ़ते-पढ़ते उन्हें नया प्रकाश मिला। भगवान महावीर और उनकी वाणी के प्रति उनकी श्रद्धा अद्‌भुत थी। जिनवाणी के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित हो गए। भगवान महावीर का अहिंसा-दर्शन उनके मन को गहराई तक छू गया। उस सन्दर्भ में उन्होंने अनेक आचार्यों और साधुओं के साथ चर्चा की। उनका मन समाहित नहीं हुआ। समाधान की नई दिशा खोजने के लिए उन्होंने वि.सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी के दिन बगड़ी नगर में अभिनिष्क्रमण कर दिया। उनके अभिनिष्क्रमण से जैन समाज में तीव्र हलचल पैदा हो गई। वे अपने विचारों का आलोक जन-जन तक पहुँचाते हुए मारवाड़ से मेवाड़ संभाग में गए। वि.सं. 1817 आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन केलवा की अन्धेरी ओरी में उन्होंने पुनः साधुत्व का संकल्प स्वीकार किया। उसी क्षण तेरापंथ धर्म संघ की नींव लग गई।

दर्शन की भाषा में यह स्वीकार किया जा सकता है कि तेरापंथ का उद्‌भव अहिंसा के विकास का उद्‌भव है। कुछ लोगों का अभिमत है कि तेरापंथ का उद्‌भव आचार क्रान्ति की फलश्रुति है। यह चिन्तन सही प्रतीत नहीं होता। मूलतः आचार्य भिक्षु ने विचार-क्रान्ति की थी। उन्होंने वैचारिक सन्दर्भ में नया दृष्टिकोण दिया और आचार के क्षेत्र में पुनर्जागरण किया। उन्होंने अहिंसा, दान, दया आदि की जो व्याख्या की, वह उनका एक नया प्रस्थान था। उन्होंने लौकिक और लोकोत्तर धर्म के बीच एक भेदरेखा स्पष्ट की, यह नया विकास था। उन्होंने अपनी बात मनवाने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया उन्होंने तत्त्व की परीक्षा के मानदण्ड प्रस्तुत कर दिए। कर्त्तव्य और धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा–'धर्म का हर व्यवहार कर्त्तव्य की सीमा में आ सकता है, किन्तु प्रत्येक कर्त्तव्य धर्म नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु जानते थे कि विचार की भूमिका परिपक्व न हो तो आचार लम्बा नहीं चल सकता। वैचारिक दृढ़ता के लिए उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे और अपनी धारणा की व्यवस्थित प्रस्तुति दी।'

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के प्राण थे, सर्वस्व थे। संघ के सर्वेसर्वा होने पर भी उन्होंने अपना चिन्तन किसी पर थोपा नहीं। उन्होंने तत्त्व समझने के लिए कुछ कसौटियाँ प्रस्तुत कर दीं। उनके द्वारा दी गई कसौटियों में सबसे बड़ी कसौटी थी–'संयम'। उन्होंने स्वयं को उस कसौटी पर कसा। लौकिक और लोकोत्तर धर्म के बीच भेदरेखा खींची। उन्होंने कहा–'जहाँ संयम है, व्रत है, त्याग है, अहिंसा है, वहाँ लोकोत्तर धर्म है। असंयम, अव्रत, भोग और हिंसा के साथ इसका कोई संबंध नहीं है।' यह अवधारणा उस समय प्रचलित धर्म की परिभाषाओं से भिन्न थी। इससे लोगों के निहित स्वार्थ विघटित हुए। आचार्य भिक्षु का तीव्र विरोध हुआ। उस विरोधी वातावरण में वे क्षमा की शान पर खरे उतरे।

❊ तेरापंथ का नामकरण

जोधपुर का प्रसंग। आचार्य भिक्षु के विचारों पर श्रद्धा रखनेवाले कुछ श्रावक एक दिन बाजार में एक दुकान पर एकत्रित हो सामायिक आदि धर्मानुष्ठान कर रहे थे। संयोगवश उसी समय फतहमलजी सिंघी का बाजार में आगमन हो गया। वे एक जैन श्रावक और उस समय के जोधपुर राज्य के महामंत्री (दीवान) थे। उन्होंने उन श्रावकों के बाजार में सामायिक करने का कारण पूछा? श्रावकों में गेरुलालजी व्यास वहीं थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु के अभिनिष्क्रमण की सारी घटना कह सुनाई। पूरी घटना को ध्यानपूर्वक सुन लेने के पश्चात् उन्होंने पूछा–इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं?

श्रावकों ने उत्तर दिया–'तेरह'।

उन्होंने फिर पूछा–अपने यहां जोधपुर में उनका अनुसरण करने वाले आप लोग कितने श्रावक हैं?

श्रावकों ने कहा–हम लोग भी तेरह ही है, जो सभी यहां उपस्थित हैं।

सिंघीजी के साथ उस समय एक सेवग जाति का कवि भी था। साधुओं और श्रावकों की संख्या में समान योग पाकर उसने उसी समय एक दोहा बनाकर सुनाया। वह इस प्रकार है–

साध साध रो गिलो करै, ते आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोगां, ए तेरापंथी तंत।।

पहले-पहल इस तेरापंथी नाम को विरोधी व्यक्तियों ने पकड़ा। उन्होंने इस अल्प संख्या को आधार बना, भिक्षु स्वामी के अनुयायियों को तेरापंथी कहकर चिढ़ाना प्रारंभ किया। उन्होंने विरोध के स्वर में इसे दूर-दूर तक फैलाने का कार्य किया। भिक्षु स्वामी के पास नामकरण के समाचार पहुंचे। उन्होंने उक्त सारी घटना को तटस्थभाव से सुना। उन्हें कवि द्वारा कहे गए उस तेरापंथी शब्द में बड़ा अर्थ दिखाई दिया। उनके लिए वह शब्द एक मार्ग बन गया। तत्काल उन्होंने अपने आसन का परित्याग कर, वंदन मुद्रा में बैठते हुए, प्रभु को नमस्कार किया और बद्धांजलि पूर्वक कहा–हे प्रभो! यह तेरा (आपका) पंथ है, हम तो इस पथ पर चलने वाले पथिक है। अतः तेरापंथी है। कवि ने नामकरण का आधार संख्या रहा, अतः भिक्षु स्वामी ने संख्यापरक अर्थ करते हुए कहा–जहां

पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां–ये तेरह नियम पालनीय हैं वह तेरापंथ है। अर्थदान के पश्चात् उन्होंने तेरापंथ को अपना प्रतीक शब्द बना संघ की संज्ञा के रूप में स्वीकार कर लिया।

❊ तेरापंथ संगठन के प्राण तत्त्व

संगठन बनाना एक बात है, पर उसे शक्तिशाली बनाना दूसरी बात है। शक्ति के अभाव में संगठन बनते हैं और बिखर जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने संगठन बनाने से पहले अनेक दृष्टियों से उसके बारे में विचार किया। संगठन बनाने के बाद पन्द्रह वर्षों तक गम्भीरता से उसका अध्ययन किया। भविष्य की संभावनाओं के बारे में सोचा। आने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में ध्यान दिया और एक संविधान का निर्माण किया। संगठन को शक्तिशाली और चिरजीवी बनाने के लिए आचार्य भिक्षु ने पांच बातों पर विशेष ध्यान दिया–

1. श्रद्धा–श्रद्धा, आस्था, विश्वास–ये समानार्थक शब्द है। प्रश्न होगा श्रद्धा किसके प्रति? लक्ष्य के प्रति, लक्ष्य प्राप्ति के साधनों के प्रति, अपने प्रति, अपने सहयोगियों के प्रति और अपने नेताओं के प्रति ।

2. उन्नत आचार–साधु का सबसे बड़ा धन है, उसका आचार। संघ में जो आचार मान्य है। उसका दृढ़ता के साथ अनुशीलन होने से ही आचार की निर्मलता रह सकती है। आचारहीन साधुवेष विडम्बना है, धोखा है।

3. व्यवस्था–व्यवस्था के अभाव में कोई भी संगठन चल नहीं सकता। संगठन छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या सामाजिक, अव्यवस्था उसकी जड़ों को हिला देती है। न्याय, समविभाग और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए व्यवस्था-तन्त्र की सबलता आवश्यक है।

4. अनुशासन–अनुशासन दमन का नहीं, प्रशिक्षण का सूत्र है। जो किसी में हीनता पैदा करे और किसी में अहंकार पुष्ट करे, वह अनुशासन नहीं होता। जिस अनुशासन से सहयोगियों में हीनता या अहं का भाव आए, उसे अच्छा नहीं माना जाता। हीनता से कुंठा बनती है और अहंकार से उच्छृंखलता आती है। कुंठा के द्वारा विकास को रोकना अभीष्ट नहीं है और अहंकार के द्वारा उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देना भी अभीष्ट नहीं है। तेरापंथ की अनुशासन शैली में इन दोनों बातों का ध्यान रखा गया है।

5. एक नेतृत्व–उपर्युक्त चारों तत्त्व एक नेतृत्व की स्थिति में ही विकसित हो सकते हैं। एक नेतृत्व के अभाव में श्रद्धा किस आधार पर टिके? आचार की सीमा रेखा कौन खींचे? व्यवस्था का संचालन कौन करे? और अनुशासन कौन दे? धर्मसंघ में एक आचार्य का नेतृत्व आचार्य भिक्षु की मौलिक देन है। तेरापंथ के विकास और विस्तार में इसका बहुत बड़ा योग हैं।

❊ मौलिक मर्यादाएं

आचार्य भिक्षु सत्य के सन्धित्सु थे। सत्य की खोज करने के लिए उन्होंने साधना का पथ स्वीकार किया। सत्य की खोज के बाद उसका अनुशीलन और प्रतिपादन भी उनका लक्ष्य था। लक्ष्य की

दिशा में आगे बढ़ते समय उपस्थित अवरोध ने उनको नया पथ खोजने के लिए विवश कर दिया। उसी विवशता की निष्पत्ति है–'तेरापंथ'। नए पथ के लिए अभिनिष्क्रमण करते समय नया संघ बनाना उनका उद्देश्य नहीं था। किन्तु जब संघ बन ही गया और उसका नामकरण भी स्वतः हो गया तो उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने पर ध्यान केन्द्रित किया। विक्रम संवत् 1832 में उन्होंने एक लिखत लिखा। उसके बाद समय-समय पर कुछ 'लिखत' फिर लिखे गए। वि. सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी, शनिवार को उनके द्वारा अन्तिम लिखत लिखा गया। उसमें प्रथम लेख पत्र की कुछ धाराओं, मर्यादाओं का समावेश था। वही लिखत तेरापंथ धर्मसंघ का संविधान या मर्यादा पत्र है। वहीं मूलतः आधार स्तंभ है।

आचार्य भिक्षु के समय में धर्मसंघ का स्वरूप स्थिर हो गया। उसे व्यवहारिक रूप देने अथवा उसके अनुरूप संस्कार निर्माण करने का कार्य चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जाचार्य ने किया। उन्होंने अनेक हाजरियों की रचना की।

आचार्य भिक्षु ने धर्मसंघ के लिए जो मर्यादाएं बनाई उनमें कुछ मर्यादाएं मौलिक हैं। उत्तरवर्ती आचार्य उन्हीं के आधार पर शासन का संचालन कर रहे हैं। आज की भाषा में उन मर्यादाओं का स्वरूप इस प्रकार है–

1. सर्व साधु-साध्वियाँ एक आचार्य की आज्ञा में रहे।
2. विहार चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करे।
3. अपने शिष्य - शिष्याएं न बनाएं।
4. आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षित करने के बाद भी कोई अयोग्य निकले तो उसे संघ से अलग कर दें।
5. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने तो सब साधु-साध्वियां उसे सहर्ष स्वीकार करें।

*** श्रावक निष्ठा पत्र**

मैं जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ का अनुयायी श्रावक हूं/श्राविका हूं। इसका मुझे गौरव है। मैं इसे जीवन-विकास का तथा समस्याओं के समाधान में सबसे बड़ा आलंबन मानता हूं/मानती हूं। अतः अपने दायित्व-निर्वाह तथा आस्था की पुष्टि के लिए मैं इन संकल्पों को स्वीकार करता हूं/करती हूं–

1. मैं आचार्य भिक्षु की मर्यादा, तेरापंथ धर्मसंघ तथा शासनपति के प्रति समर्पित रहूंगा/रहूंगी।
2. मैं धर्मसंघ की अखंडता के लिए सतत जागरूक रहूंगा/रहूंगी। दलबंदी को प्रोत्साहन नहीं दूंगा/दूंगी।
3. मैं श्वेताम्बर जैन तेरापंथ धर्मसंघ से मुक्त व्यक्ति (टालोकर) को प्रश्रय नहीं दूंगा/दूंगी।
4. मैं आचार्य की आज्ञा के प्रतिकूल प्रवृत्ति को समर्थन नहीं दूंगा/दूंगी।

5. धर्मसंघ के किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो उसका अन्यत्र प्रचार किए बिना यथौचित्य स्वयं उसे अथवा आचार्य आदि उपयुक्त व्यक्ति को जताऊंगा/जताऊंगी।
6. मैं प्रत्येक शनिवार को सायं सात* से आठ बजे के बीच सामायिक करने का यथासंभव प्रयत्न करूंगा/करूंगी।
7. मैं सम्यक्त्व दीक्षा के चारों नियमों का जागरूकता पूर्वक पालन करूंगा/करूंगी।

❊ तेरापंथ की आचार्य परम्परा

1.	आचार्यश्री भीखणजी (आचार्य भिक्षु)	44	वि. सं. 1817-1860
2.	आचार्यश्री भारमलजी	18	वि. सं. 1860-1878
3.	आचार्यश्री रायचंदजी (ऋषिराय)	30	वि. सं. 1878-1908
4.	आचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्य)	30	वि. सं. 1908-1938
5.	आचार्यश्री मघराजजी	11	वि. सं. 1938-1949
6.	आचार्यश्री माणकलालजी	5	वि. सं. 1949-1954
7.	आचार्यश्री डालचंदजी	12	वि. सं. 1954-1966
8.	आचार्यश्री कालूरामजी	27	वि. सं. 1966-1993
9.	आचार्यश्री तुलसी	57	वि. सं. 1993-2050
10.	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	17	वि. सं. 2050-2067
11.	आचार्यश्री महाश्रमण	वर्तमान	वि. सं. 2067-वर्तमान

❊ तेरापंथ के पर्व

तेरापंथ समाज के अपने पर्व है और उनका एक विशिष्ट स्थान भी है। तेरापंथ धर्मसंघ में प्रतिवर्ष प्रमुख रूप से चार महोत्सव मनाए जाते हैं–मर्यादा-महोत्सव, तेरापंथ स्थापना दिवस, चरमोत्सव, पट्टोत्सव।

❊ मर्यादा महोत्सव

'मर्यादा महोत्सव' तेरापंथ संघ की एकता, संगठन, अनुशासन और मर्यादा का प्रतीक है। यह संघ की वैधानिक, संगठनात्मक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का केन्द्र है। इस महोत्सव का विधिवत् प्रारंभ वि. सं. 1921 माघ शुक्ला सप्तमी बालोतरा में हुआ। यह महोत्सव मर्यादा निर्माण के उपलक्ष में प्रारंभ हुआ था इसलिए इसका मूल नाम 'मर्यादा महोत्सव' है। यह माघ महीने में मनाया जाता है इसलिए इसे 'माघमहोत्सव' भी कहते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अपने धर्मसंघ की सुव्यवस्था के लिए समय-समय पर अनेक विधान (मर्यादा) बनाए। उन्होंने अंतिम विधान बनाया वि. सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी को। उसी दिन को स्थायी

रूप से मर्यादा-महोत्सव के लिए चुना गया। बहुत वर्षों तक मर्यादाओं को महोत्सव का रूप नहीं दिया गया था। जब कभी साधु इकट्ठे होते तब वे मर्यादाएं सुना दी जाती थी। इसे सर्वप्रथम महोत्सव का रूप देने का श्रेय है–चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य को। महोत्सव के दिन विशेष रूप से मर्यादाओं का पारायण और संकल्पों का पुनरुच्चारण होता है। सैकड़ों साधु-साध्वियां दीक्षाक्रम में पंक्तिबद्ध खड़े होकर एक स्वर से संकल्पों को दोहराते हैं। वह दृश्य बहुत मनोहारी होता है।

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर अधिकांश साधु-साध्वियां आचार्य द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाते हैं। आचार्य अतीत का सिंहावलोकन करते हैं। साधु-साध्वियों की अंतरंग सारणा-वारणा और व्यवस्था करते हैं। भावी कार्यक्रमों की क्रियान्विति हेतु मार्ग-दर्शन देते हैं। उस अवसर पर संघ के आंतरिक और सार्वजनिक पहलुओं पर सामूहिक चिंतन-गोष्ठियां आयोजित होती हैं। नए निर्णय लिए जाते हैं। साधु-साध्वियों के अग्रिम चातुर्मासों की नियुक्तियां भी प्रायः इसी समय होती है।

तेरापंथ स्थापना दिवस

वि. सं. 1817 आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का दिन। मेवाड़ का एक छोटा-सा गाँव केलवा, वहाँ पर तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी का मन्दिर, उसके एक ओर बनी 'अन्धेरी ओरी' में आचार्य भिक्षु ने सायं लगभग सात बजकर तीस मिनट पर भाव-दीक्षा स्वीकार की। उसी दिन को तेरापंथ स्थापना दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस दिन तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु की स्मृति की जाती है और तेरापंथ के प्रारम्भ की स्थितियों का विश्लेषण किया आता है। वास्तव में यह दिन तेरापंथ के इतिहास का आदि दिन माना जाता है।

चरमोत्सव

यह महोत्सव भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी को मनाया जाता है। इस दिन तेरापंथ के आद्यप्रर्वतक आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास हुआ था। चतुर्विध संघ इस अवसर पर आचार्य भिक्षु के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास हुआ था वि. सं. 1860 भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी को। इस दिन को महोत्सव का रूप मिला वि. सं. 1914 में। श्रीमज्जयाचार्य ने वि. सं. 1914 भाद्रव शुक्ला त्रयोदशी को पहली बार बीदासर में विशेष आयोजन करके इसे महोत्सव का रूप दिया। उसके बाद प्रतिवर्ष यह दिन भिक्षु-चरमोत्सव के रूप में मनाया जाता है।

पट्टोत्सव

संघ के वर्तमान आचार्य जिस दिन 'आचार्य पद' पर आसीन होते हैं, उसी तिथि को यह समारोह मनाया जाता है। इस दिन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएं गीतिकाओं, कविताओं और भाषणों द्वारा अपने वर्तमान आचार्य के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं, उनका गुण-कीर्तन करते हैं। इस पट्टोत्सव को आरंभ करने का श्रेय है–श्रीमज्जयाचार्य को। उन्होंने वि. सं. 1911 माघ पूर्णिमा को इन्दौर में प्रथम बार पट्टोत्सव मनाने की स्वीकृति दी। वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमणजी का पट्टोत्सव वैशाख शुक्ला 10 दशमी को मनाया जाता है।

❊ संघगान

तेरापंथ के मुख्य संघीय समारोह (पट्टोत्सव, युवाचार्य मनोनयन दिवस, तेरापंथ स्थापना दिवस, विकास महोत्सव, चरमोत्सव और पट्टोत्सव) की सम्पन्नता संघगान से की जाती है। इस दौरान उपस्थित सभी साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाएं यथासंभव कायस्थिरता की मुद्रा में तल्लीनता के साथ खड़े रहते हैं।

जय-जय धर्मसंघ अविचल हो।
संघ संघपति प्रेम अटल हो।।

हम सबका सौभाग्य खिला है, प्रभु यह तेरापंथ मिला है।
एक सुगुरु के अनुशासन में, एकाचार विचार विमल हो।।1।।

दृढ़तर सुन्दर संघ-संगठन, क्षीर-नीर-सा यह एकीपन।
है अक्षुण्ण संघ-मर्यादा, विनय और वात्सल्य अचल हो।।2।।

संघ संपदा बढ़ती जाए, प्रगति शिखर पर चढ़ती जाए।
भैक्षव शासन नन्दनवन की सौरभ से सुरभित भूतल हो।।3।।

'तुलसी' जय हो सदा विजय हो, संघ चतुष्टय बल अक्षय हो।
श्रद्धा-भक्ति बहे नस-नस में, पग-पग पर प्रतिपल मंगल हो।।4।।

❊ तेरापंथ के प्रमुख सिद्धांत

1. धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं होता, दोनों की करणी भिन्न-भिन्न है।
2. अशुद्ध साधन के द्वारा साध्य की प्राप्ति नहीं होती।
3. गृहस्थ और साधु का मोक्ष धर्म एक है।
4. लौकिक (सांसारिक) और लोकोत्तर (आध्यात्मिक) धर्म एक नहीं है, सम्यक्दृष्टि इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है।
5. मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया मोक्ष धर्म की आंशिक आराधना है।
6. अहिंसा और दया सर्वथा एक है।
7. हिंसा में धर्म नहीं होता।
8. बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों का घात पुण्य नहीं है।
9. आवश्यक हिंसा अहिंसा नहीं है।
10. धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।
11. धर्म वीतराग भगवान की आज्ञा में है, आज्ञा से बाहर नहीं।
12. धर्म संयम में है, असंयम में नहीं।

13. धर्म हृदय परिवर्तन में है, बल प्रयोग में नहीं।
14. धर्म अनमोल है, मूल्य से प्राप्त होने वाला नहीं।
15. असंयति के जीने की इच्छा करना राग, उसके मरने की इच्छा करना द्वेष और उसके संसार समुद्र से तरने की इच्छा करना वीतराग देव का धर्म है।

पाठ-9 आचार्य भिक्षु

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक थे। वे युग संस्थापक, क्रान्त द्रष्टा, आत्म-संगीत के उद्‌गाता एवं सत्य के महान् अनुसंधाता थे। उनके जीवन का सर्वस्व ही सत्य था। आगममंथन करते समय प्राप्त सत्य की स्वीकृति में सम्प्रदाय का व्यामोह, सुविधावाद का प्रलोभन एवं पद-सम्मान का आकर्षण उनके लिए बाधक नहीं बना। उन्होंने सत्य की अनुभूति को दुनिया के सामने निर्भीकतापूर्वक अभिव्यक्त किया। उनके सार्वभौमिक अहिंसात्मक घोष से धार्मिक जगत् में एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ।

आचार्य भिक्षु का जन्म वि. सं. 1783 आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी को कंटालिया (मारवाड़) में हुआ। उनके पिता का नाम बल्लूजी तथा माता का नाम दीपां बाई था। उनकी जाति ओसवाल तथा वंश सकलेचा था। आचार्य भिक्षु का जन्म नाम भीखण था। प्रारंभ से ही वे असाधारण प्रतिभा के धनी थे। तत्कालीन परंपरा के अनुसार छोटी उम्र में उनका विवाह हो गया। वैवाहिक जीवन में बंध जाने पर भी उनका जीवन वैराग्य-भावना से ओत-प्रोत था। धार्मिकता उनकी रग-रग में रमी थी। पत्नी भी उन्हें धार्मिक विचारों वाली मिली। पति-पत्नी दोनों ही दीक्षा लेने के लिए उद्यत हुए, किन्तु नियति को शायद यह मान्य नहीं था। कुछ वर्षों बाद पत्नी का देहावसान हो गया। तत्पश्चात् भीखणजी अकेले ही दीक्षा लेने को उद्यत हुए, पर माता ने दीक्षा की अनुमति नहीं दी। तत्कालीन स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी के समझाने पर माता ने कहा–'महाराज! मैं इसे दीक्षा की अनुमति कैसे दे सकती हूं क्योंकि जब वह गर्भ में था तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था। उस स्वप्न के अनुसार यह बड़ा होकर किसी देश का राजा बनेगा और सिंह जैसा पराक्रमी होगा।' आचार्य रुघनाथजी ने कहा–'बाई! यह तो बहुत अच्छी बात है। राजा तो एक देश में पूजा जाता है, तेरा बेटा तो साधु बनकर सारे जगत् का पूज्य बनेगा और सिंह की तरह गूंजेगा।' इस प्रकार आचार्य रुघनाथजी के समझाने पर माता ने सहर्ष दीक्षा की अनुमति दे दी।

वि. सं. 1808 मार्गशीर्ष कृष्णा बारस को भीखणजी ने आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की। संत भीखणजी की दृष्टि पैनी और मेधा सूक्ष्मग्राही थी। तत्त्व की गहराई में पैठना उनके लिए स्वाभाविक बात थी। थोड़े ही वर्षों में वे जैन शास्त्रों के पारगामी पंडित बन गए।

वि. सं. 1815 के आस-पास संत भीखणजी के मस्तिष्क में साधु वर्ग की आचार-विचार संबंधी शिथिलता के प्रति एक क्रांति की भावना पैदा हुई। उन्होंने अपने क्रान्तिपूर्ण विचारों को आचार्य रुघनाथजी के सामने रखा। दो वर्ष तक विचार-विमर्श होता रहा। जब कोई संतोषजनक निर्णय नहीं हुआ तब विचारभेद के कारण वि. सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी को कुछ साधुओं सहित वे बगड़ी (मारवाड़) में उनसे पृथक् हो गए। उनकी धर्मक्रान्ति का विरोध हुआ। चूंकि उस समय पूज्य रुघनाथजी का प्रभाव प्रबल था। इसलिए लोगों ने भीखणजी का असहयोग किया। ठहरने के लिए स्थान नहीं दिया। वहां से विहार किया। गांव के बाहर आए कि तेज आंधी आ गई। '**इतो व्याघ्रस्ततस्तटी**' वाली कहावत घटित हो गई। पीछे गांव में जगह नहीं, आगे आंधी ने रास्ता रोक लिया। इसलिए उन्होंने अपना पड़ाव गांव के बाहर श्मशान में जैतसिंहजी की छतरियों में किया। आज भी वे छतरियां विद्यमान हैं।

संघ-बहिष्कार के साथ ही आचार्य भिक्षु पर जैसे विरोधों के पहाड़ टूट पड़े। पर वे लौहपुरुष थे। विरोधों के सामने झुकना उन्होंने सीखा नहीं था। वे सत्य के महान उपासक थे। सत्य के लिए प्राण न्यौछावर करने के लिए भी वे तत्पर थे। उन्हीं के मुख से निकले हुए शब्द–'**आत्मा रा कारज सारस्यां, मर पूरा देस्यां**' सत्य के प्रति अगाध समर्पण के सूचक हैं। वे महान आत्मबली और अतुल साहसी थे। जैनागमों में वर्णित आचार-विचार के आधार पर वे जीवन में शुद्ध साधुता को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वि. सं. 1817 आषाढ़ पूर्णिमा को केलवा (मेवाड़) में अपने साथियों सहित उन्होंने शास्त्र सम्मत दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापंथ स्थापना का प्रथम दिन था। इसी दिन आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में एक सुसंगठित साधु संघ का सूत्रपात हुआ और वह संघ तेरांपथ के नाम से प्रख्यात हो गया।

वि. सं. 1817 से लेकर वि. सं. 1832 तक पंद्रह वर्ष का जीवन आचार्य भिक्षु का महान् संघर्षमय रहा। यहां तक कहा जाता है कि उन्हें पांच वर्ष तक पेट भर आहार बहुत कम मिलता, कभी नहीं भी मिलता। इस महान संघर्ष की स्थिति में आचार्य भिक्षु ने कठोर साधना, तपस्या, शास्त्रों का गंभीर अध्ययन एवं संघ की भावी रूपरेखा का चिंतन किया।

वि. सं. 1832 में आचार्य भिक्षु ने अपने प्रमुख शिष्य भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय संघीय मर्यादाओं का भी निर्माण किया। उन्होंने पहला मर्यादा पत्र इसी वर्ष मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को लिखा। उसके बाद समय-समय पर नई-नई मर्यादाओं के निर्माण से संघ को सुदृढ़ करते रहे। उन्होंने अंतिम मर्यादा पत्र लिखा वि. सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी को। एक आचार्य में संघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होंने सुदृढ़ संगठन की नींव डाली। इससे अपने-अपने शिष्य बनाने की परंपरा का विच्छेद हो गया। भावी आचार्य के मनोनयन का दायित्व भी उन्होंने वर्तमान आचार्य को सौंपा। आज तेरापंथ धर्मसंघ अनुशासित, मर्यादित और व्यवस्थित धर्मसंघ है, इसका श्रेय आचार्य भिक्षु कृत इन्हीं मर्यादाओं को है।

आचार्य भिक्षु ने अपने मौलिक चिंतन के आधार पर नए मूल्यों की स्थापना की।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा व पंचेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियों का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि से आगम-सम्मत नहीं था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी भी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना घी और तम्बाकू के सम्मिश्रण जैसा अनुपादेय है।

दान-दया के विषय में लौकिक एवं लोकोत्तर भेद रेखा प्रस्तुत कर आचार्य भिक्षु ने जैन समाज में प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चिंतन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान का मापदण्ड दान-दया पर अवलंबित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताएं भी दान-दया के साथ जुड़ी हुई थी। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्तव्य व सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय में उनका दृष्टिगोचर स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही शुद्ध साध्य की प्राप्ति संभव है। उन्होंने कहा–'रक्त से सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नहीं होता वैसे ही हिंसा प्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती।'

आचार्य भिक्षु एक कुशल विधिवेत्ता होने के साथ-साथ एक सहज कवि और महान साहित्यकार थे। उन्होंने राजस्थानी भाषा में लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। आचार्य भिक्षु की साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार का प्रतिपादन, तत्त्वदर्शन का विश्लेषण एवं धर्मसंघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं में प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निबद्ध हैं। उनके द्वारा रचे गए पद्यों में रस, अनुप्रास और अलंकारों के प्रयोग पाठक को मुग्ध कर देते हैं। आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढ़कर आधुनिक विद्वान् उन्हें हेगल और काण्ट की तुला से तोलते हैं।

आचार्य भिक्षु जब तक जीए, ज्योति बनकर जीए। उनके जीवन का हर पृष्ठ पुरुषार्थ की गौरवमयी गाथाओं से भरा पड़ा है।

आचार्य भिक्षु के शासनकाल में उनचास साधु और छप्पन साध्वियां दीक्षित हुई। वि. सं. 1860 भाद्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन सात प्रहर के अनशन के साथ सिरियारी (मारवाड़) में उन्होंने समाधि-मरण प्राप्त किया। उस समय उनकी आयु सतहत्तर वर्ष की थी।

आचार्य भिक्षु के प्रेरक प्रसंग

1. घास के बदले दूध

काफरला गांव में साधु भिक्षा लेने गए। एक जाटनी ने घर आटे का धोवन था। साधुओं के मांगने पर भी उसने नहीं दिया। साधु खाली पात्र लिए लौट आए। उन्होंने आचार्य भिक्षु से कहा–जल बहुत है, पर मिल नहीं रहा है।

आचार्य भिक्षु–क्यों? क्या वह बहिन देना नहीं चाहती?

साधु–वह जो देना चाहती है, वह अपने लिए ग्राह्य नहीं है और ग्राह्य है, वह देना नहीं चाहती।

भिक्षु–उसे धोवन देने में क्या आपत्ति है?

साधु–वह कहती है–आदमी जैसा देता है, वैसा पाता है। आटे का धोवन दूं तो मुझे वही मिलेगा, मैं परभव में उसे पी नहीं सकती। यह साफ पानी है, आप ले लीजिए।

आचार्य भिक्षु उठे और साधुओं को साथ लेकर उस घर में गए। धोवन की मांग करने पर उस बहिन ने वही उत्तर दिया जो पहले ही दे चुकी थी।

भिक्षु– बहिन तेरे घर में गाय है?

बहिन–हां महाराज, है।

भिक्षु–तू उसे क्या खिलाती है?

बहिन–चारा, घास।

भिक्षु–वह क्या देती है?

बहिन–दूध।

भिक्षु–तब बहिन! जैसा देता है, वैसा कहां मिलता है? घास के बदले दूध मिलता है न?

अब वह रुक नहीं सकी। धोवन का पात्र उठा सारा जल उसने साधुओं के पात्र में उंडेल दिया।

2. तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है

भीखणजी स्वामी देसूरी जा रहे थे। रास्ते में घाणेराव के कई व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा–''तुम कौन हो?'' आचार्य भिक्षु ने कहा–''मैं भीखण हूं।'' ओह! अनर्थ हो गया, उन्होंने कहा। आचार्य भिक्षु ने पूछा–'कैसे?' वे बोले–'तुम्हारा मुंह देखने वाला तो नरक में जाता है।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'और तुम्हारा मुंह देखने वाला तो स्वर्ग में जाता होगा न?' उन्होंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा–'तब ठीक, मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ। मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि मैंने तुम्हारा मुंह देखा है।' तुम तुम्हारी जानो।

3. इतने जनप्रिय क्यों?

आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने पूछा–महाराज! आप इतने जनप्रिय क्यों है? आपने कहा–एक पतिव्रता स्त्री थी। उसका पति विदेश में था। बहुत दिनों से उसे पति का कोई समाचार नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् एक समाचारवाहक आया। उसने उसके पति का सन्देश दिया। सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ। उसके लिए वह आकर्षण का केन्द्र बन गया। हम भगवान् के संदेशवाहक हैं। लोग भगवान् के भक्त है, भगवान् का संदेश सुनने के लिए आतुर रहते हैं। हम गांव-गांव में जाते हैं और लोगों को भगवान् का संदेश सुनाते हैं। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का यही कारण है।

4. एक मुक्का

उदयपुर में एक व्यक्ति आया और कहने लगा–मुझसे तत्त्व-चर्चा का कोई प्रश्न पूछो।' आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। वह बार-बार अनुरोध करने लगा।

तब स्वामीजी ने पूछा–'तुम समनस्क हो या अमनस्क?' उसने कहा–'समनस्क।' आचार्यश्री ने पूछा–कैसे? उसने कहा–नहीं-नहीं, मैं तो अमनस्क हूं। फिर आचार्यश्री ने पूछा–किस न्याय से? बोला–नहीं-नहीं, मैं दोनों ही नहीं हूं। आपने कहा–किस प्रकार? न्याय बताओ। वह बोला–नहीं, मैं दोनों ही हूं। फिर पूछा–वह किस न्याय से? वह इस 'न्याय-न्याय' से क्रुद्ध होकर आचार्यश्री की छाती में मुक्का मारकर चलता बना।

पाठ-10 आचार्य महाश्रमण

भारतीय ऋषि परम्परा के महान संवाहक आचार्यश्री महाश्रमण तेरापंथ धर्मसंघ की एक नेतृत्व की परम्परा में ग्यारहवें अधिशास्ता हैं। वे उन महान संत-विचारकों में से एक हैं, जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे एक ऐसे उच्च कोटि के साधक हैं, जिन्होंने साधुता के उच्च मूल्यों को सदैव वर्धमान रखा है। उनके आभावलय में हर व्यक्ति असीम शांति और तृप्ति का अनुभव करता है। उनके शांत और गांभीर्य से परिपूर्ण मुखाकृति सतत आत्मस्थता का द्योतक है। जनसंकुल और कोलाहल वातावरण में भी उनकी एकाग्रता बाधित नहीं होती। लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना समर्पण भाव ने उनकी साधना को पुष्टता प्रदान की है। तेजस्विता और क्षमाशीलता, साधना और शासना तथा सिद्धांत प्रियता और वैचारिक औदार्य के वे दुर्लभ समवाय है।

*** जन्म**

उनका जन्म 13 मई 1962 (वि. सं. 2019 वैशाख शुक्ला नवमी) रविवार को राजस्थान के एक प्रमुख क्षेत्र सरदारशहर में हुआ। उनका जन्म नाम मोहन है। मोहन के पिता का नाम झूमरमलजी दूगड़ और माता का नाम नेमांदेवी था। छः भाई और दो बहनों में मोहन का क्रम सातवां है।

सात वर्ष की लघुवय में ही मोहन के पिता श्री झूमरमलजी दूगड़ का देहावसान हो गया। माता नेमांदेवी ने माता-पिता दोनों की भूमिका बड़ी कुशलता से निभाई। वे एक विवेकसम्पन्न, समझदार, व्यवहार-कुशल और धार्मिक महिला थी। मां तथा बड़े भ्राता सुजानमलजी दूगड़ आदि पारिवारिक जनों के स्नेह भरे वातावरण में मोहन की धार्मिक-आध्यात्मिक वृद्धि होने लगी।

*** दीक्षा**

5 मई 1974 (वि. सं. 2031 वैशाख शुक्ला 14) तेरापंथ धर्मसंघ के नवमाधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी की अनुज्ञा से सरदारहशर में ही मोहन ने 12 वर्ष की लघुवय में मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं/मंत्री मुनि) से दीक्षा स्वीकार की। दीक्षित होने के पश्चात् मोहन की मुनि मुदित के रूप में यात्रा प्रारंभ हुई।

❊ अध्ययन में रुचि

दीक्षित होने के 40 ही दिनों में मुनि मुदितकुमारजी ने दसवेआलियं सूत्र को अर्थ सहित कंठस्थ कर लिया। इन चालीस दिनों में चौदह दिन गाजबीज से अस्वाध्याय के सम्मिलित थे। इस प्रकार शीघ्र ही मुनि मुदितकुमारजी ने हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में अनेक ग्रंथ कंठस्थ कर लिए व हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मारवाड़ी, अंग्रेजी आदि भाषा में निपुणता प्राप्त की।

❊ एक साहसिक निर्णय

मुनि मुदितकुमारजी पूज्यप्रवर के मार्गदर्शन में निरन्तर गति-प्रगति करते रहे। उनकी प्रज्ञा की पारदर्शिता निखरती गई। सन् 1979 का प्रसंग। मुनि मुदितकुमारजी मुनिश्री रूपचन्दजी के साथ अशोक विहार, दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। उस समय युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी का भी अणुव्रत भवन, दिल्ली में प्रवास हो रहा था। एक दिन अपराह्न में मुनिश्री रूपचन्दजी ने मुनि मुदितकुमारजी से कहा–मैं इस संघ से अलग होने जा रहा हूं। तुम अपना चिन्तन कर लो कि तुम्हें कहां रहना है? हमारे साथ चलना है या यहीं (संघ में) रहना है। मुनि मुदितकुमारजी का अपने ग्रुप के प्रति तीनों सदस्यों के साथ अच्छा सामंजस्य और सौहार्द था। उस विषम परिस्थिति में बाल मुनि मुदितकुमारजी ने संघनिष्ठा का परिचय देते हुए तत्काल कहा–मैं तो संघ में ही रहूंगा।

मुनिश्री रूपचन्दजी उनको संघस्थ संतों को सौंपकर अलग हो गए। संतों के साथ वे जब युवाचार्यश्री के पास पहुंचे। तब सन्तों ने निवेदन किया–युवाचार्यश्री! मुदित मुनि ने अच्छा परिचय दिया है। युवाचार्यप्रवर ने फरमाया–यह तो मुझे विश्वास ही था। उन दिनों गुरुदेव तुलसी पंजाब में प्रवास कर रहे थे। वहां से भी एक संदेश आया। उसमें लिखा था–मुनि मुदितकुमार ने जो शासनभक्ति का परिचय दिया है, उससे मैं गद्‌गद् हूं। उसके अध्ययन और साधना की सुमचित व्यवस्था की जाए।

❊ प्रगति के सोपान

मुनि मुदितकुमारजी की संघनिष्ठा और आचारनिष्ठा ने आचार्यश्री तुलसी और युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के मन में एक नया विश्वास जगा दिया। उनके पास वे गंभीर शास्त्रों की वाचना लेने लगे। 16 फरवरी 1986 (वि. सं. 2042 माघ शुक्ला 7) को गुरुदेव तुलसी ने उन्हें युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ के अंतरंग सहयोगी के रूप में नियुक्त किया। संघ के व्यवस्थापक्ष से जुड़ जाने के पश्चात् उनका बाह्य व्यक्तित्व अपनी आत्मकेन्द्रित प्रकृति के साथ उभर कर सामने आने लगा। 13 मई 1986 (वि. सं.2043, वैशाख शुक्ला 4) को आचार्यश्री तुलसी ने मुनि मुदितकुमारजी को साझपति बनाया तथा 9 सितम्बर 1989 (वि. सं. 2046 भाद्रपद शुक्ला 9) को गुरुदेव ने धर्मसंघ में नए पद का सृजन करते हुए मुनि मुदितकुमारजी को महाश्रमण पद पर नियुक्त किया। नए पद के सृजन के साथ धर्मसंघ में युवाचार्य के बाद महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी का स्थान सर्वोपरि बना।

❊ एक अनोखा उपहार

गुरु इंगित से पाली से पृथक् विहार कर सिवाणची मालाणी के अनेकों क्षेत्रों की सार-संभाल करते हुए महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी ने 10 जनवरी 1991 को जैसे ही प्रवचन पण्डाल में प्रवेश

किया, युवाचार्य महाप्रज्ञजी ने उनकी अगवानी की। आचार्यश्री तुलसी ने खड़े होकर उनको सहलाया और अपने सीने से लगाया। हजारों लोगों की उपस्थिति में मन को मोह लेने वाला वह एक आकर्षक दृश्य था।

महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी की विजय यात्रा के प्रसंग पर गुरुदेव तुलसी ने प्रवचन में अपने वक्तव्य के दौरान भारमलजी के प्रसंग को तथा वर्तमान समाज में पनप रहे सुविधावाद को उल्लेखित करते हुए फरमाया–यदि कोई व्यक्ति यह कहे दे कि मुदित मुनि सुविधावादी बन रहे हैं अथवा तुम्हारी कोई सुविधावादी प्रवृत्ति मेरे ध्यान में आ जाए तो उसके प्रायश्चित्त स्वरूप तुम्हें तीन घंटे खड़े-खड़े ध्यान करना होगा। महाश्रमणजी ने बद्धांजलि होकर आचार्यवर द्वारा प्रदत्त इस उपहार को स्वीकार किया।

अपने जीवन काल में कभी भी इन्हें प्रायश्चित्त स्वरूप तीन दिन तक तीन-तीन घंटे खड़े रहने का अवसर नहीं आया।

❊ युवाचार्य पद

तेरापंथ धर्मसंघ एक आचार्य केन्द्रित धर्मसंघ है। यहां आचार्य स्वयं अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते हैं। इसी क्रम में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन किया। पर मनोनयन का आलेख दो बार लिखा गया। प्रथम पत्र गुरुदेवश्री तुलसी की साक्षी में 10 नवम्बर (वि. सं. 2053) जैन विश्व भारती, लाडनूं में लिखा गया और द्वितीय पत्र उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् 10 सितम्बर 1997 (वि. सं. 2054 भाद्रव शुक्ला अष्टमी) गंगाशहर (बीकानेर) में लिखा गया।

14 सितम्बर 1997 (वि. सं. 2054 भाद्रव शुक्ला द्वादशी) के दिन गंगाशहर (बीकानेर) में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महाश्रमण मुनि मुदितकुमारजी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य पद पर नियुक्त किया और उसी समय गुरुदेवश्री तुलसी द्वारा प्रदत्त महाश्रमण पद को 'महाश्रमण' नाम में परिवर्तित कर दिया गया। कालांतर में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने युवाचार्य महाश्रमणजी की सहनशीलता, श्रमशीलता आदि गुणों का उल्लेख करते हुए इन्हें महातपस्वी महाश्रमण के रूप में संबोधित किया।

❊ आचार्य पदाभिषेक

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के साथ युवाचार्यश्री महाश्रमण ने सप्तवर्षीय अहिंसा यात्रा की व युवाचार्य के रूप में 13 वर्ष तक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अभिन्न देह बनकर तेरापंथ धर्मसंघ की बहुआयामी व्यवस्थाओं के सम्पादन में अपनी विशेष भूमिका निभाई।

9 मई 2010 (वि. सं. 2067 द्वितीय वैशाख कृष्णा 11) को आचार्यश्री महाप्रज्ञ के महाप्रयाण के पश्चात् आप (आचार्यश्री महाश्रमण) तेरापंथ धर्मसंघ की यशस्वी आचार्य परम्परा के एकादशम अधिशास्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

अपनी जन्मधरा पर दीक्षित एवं उसी धरा पर 23 मई 2010 (वि. सं. 2067 द्वितीय वैशाख शुक्ला दशमी) को गांधी विद्या मंदिर, सरदारशहर के भव्य प्रांगण में विशाल जनमेदिनी के बीच आचार्यश्री महाश्रमण का आचार्य पदाभिषेक समारोह सोत्साह समायोजित हुआ।

आचार्य पदारोहण के पश्चात् सरदारशहर चातुर्मास संपन्न कर आचार्यश्री महाश्रमण ने सर्वप्रथम तीर्थयात्रा प्रारंभ की। आचार्यवर ने उन क्षेत्रों को तीर्थ बताया, जहां वृद्ध अथवा रुग्ण साधु-साध्वियों के सेवाकेन्द्र बने हुए हैं अथवा जहां उनका प्रवास हो रहा है।

अहिंसा यात्रा

9 नवम्बर 2014 (वि. सं. 2071, मार्ग शीर्ष कृष्णा 3) को आचार्यश्री महाश्रमण ने भारत की राजधानी दिल्ली से अहिंसा यात्रा का प्रारंभ किया। स्वकल्याण और परकल्याण के उद्देश्य से अपने त्रिआयामी मिशन (सद्भावना, नैतिकता और नशामुक्ति) के साथ आचार्यश्री ने भारत के 20 राज्य, नेपाल व भूटान में 18,000 से अधिक कि.मी. की पैदल अहिंसा यात्रा की। राष्ट्रपति भवन से लेकर गरीब की झोंपड़ी तक हर जाति, वर्ग, क्षेत्र व संप्रदाय के लोग आचार्यश्री की इस यात्रा से लाभान्वित हुए। विषम भयावह मार्गों, आंधी-तूफानों, बर्फीली हवाओं, झुलसाने वाली गर्मी, ओलों से युक्त वर्षा व भूकंप, महामारी जैसी विषम परिस्थितियों से होते हुए आचार्यश्री ने 27 मार्च 2022 दिल्ली में अपनी इस भव्य व सुसफल अहिंसा यात्रा को परिसम्पन्न कर करोड़ों लोगों को विश्वशांति के एक सूत्र में पिरोया।

*** युगप्रधान पदाभिषेक**

30 जनवरी 2022 (वि. सं. 2078 माघ कृष्णा त्रयोदशी) जैन विश्व भारती (लाडनूं) के भव्य प्रांगण में शासनमाता साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी द्वारा अपने साध्वीप्रमुखा काल के अमृत महोत्सव के अवसर पर चतुर्विध धर्मसंघ की ओर से वरदान स्वरूप आचार्यश्री महाश्रमण को युगप्रधान पद स्वीकार करने का अनुरोध किया। चतुर्विध धर्मसंघ की ओर से इस अनुरोध को आचार्यश्री टाल न सके। उन्होंने इसे ससम्मान स्वीकारा। यह आचार्यश्री के मानवजाति, जैनशासन और तेरापंथ धर्मसंघ के समुत्थान के लिए प्रदत्त लोक कल्याणकारी अवदानों और उस हेतु किए गए कठोर, अथक और सुसफल प्रयासों का प्रतीक बना। युगप्रधान वर्धापना आयोजन सरदारशहर (राजस्थान) में 10 मई 2022 वैशाख शुक्ला नवमी आचार्यश्री के षष्ठीपूर्ति के प्रसंग के साथ मनाया गया। यह दिन आचार्यश्री के अपने आचार्य काल के एक युग (12 वर्ष) का अंतिम दिन भी था। इस दिन देश-विदेश अवस्थित हजारों-हजारों लोग सात चरणों में आयोज्य इस भव्य कार्यक्रम के साक्षी बने। चतुर्विध धर्मसंघ का प्रतिनिधित्व करते हुए मुख्यमुनिश्री महावीरकुमारजी ने युगप्रधान पदाभिषेक पत्र का वाचन कर उसे आचार्यश्री के कर-कमलों में समर्पित किया। हर्षध्वनि से पूरा पण्डाल गुंजायमान हो उठा।

अभिवन्दना-वर्धापना के इस गौरवमय आयोजन की साक्षी में लिखा हुआ वह पत्र तेरापंथ इतिहास का अमिट आलेख है।

❊ ऐतिहासिक तथ्य

1. तेरापंथ धर्मसंघ के सेवाकेन्द्रों को तीर्थक्षेत्र मानना और आचार्य बनने के बाद सबसे पहले तीर्थयात्रा करना।
2. लाडनूं को तेरापंथ धर्मसंघ की राजधानी घोषित करना।
3. बहुश्रुत परिषद के सदस्यों का मनोनयन करना।
4. समीक्षा परिषद् का गठन करना।
5. कल्याण परिषद् का गठन करना।
6. आचार्य महाश्रमण अमृत महोत्सव वर्ष मनाना।
7. आचार्य तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष मनाना।
8. आचार्य महाप्रज्ञ जन्म शताब्दी वर्ष मनाना।
9. आचार्य भारमलजी की महाप्रयाण द्विशताब्दी मनाना।
10. एक साथ 43 दीक्षाएं देना।
11. दिल्ली के लालकिले के परिपार्श्व से 'अहिंसा यात्रा' का शुभारंभ होना।
12. नेपाल के उपराष्ट्रपति परमानन्द झा के द्वारा दिल्ली में आचार्यप्रवर के साथ पैदल चलना।
13. नेपाल में तेरापंथ की आचार्य परम्परा का प्रथम चातुर्मास करना।
14. भूटान में प्रथम जैनाचार्य के रूप में प्रवेश करना।
15. भूटान की बौद्ध गुफा में किसी अन्य सम्प्रदाय के धर्मगुरु का प्रथम प्रवास होना।
16. 10,000 बौद्ध मंत्रों से बौद्ध लामाओं द्वारा अभिनंदन किया जाना।
17. भारत के 23 राज्यों का स्पर्श करना।
18. तीन देशों (भारत, नेपाल, बांग्लादेश) की आर्मी द्वारा अहिंसा यात्रा के संकल्प स्वीकार करना।
19. 19 राज्यों द्वारा पूज्यप्रवर को राजकीय अतिथि बनाना।
20. पूर्वांचल व दक्षिणांचल की एक साथ सप्तवर्षीय सुदीर्घ यात्रा करना।
21. 51 हजार से अधिक किमी. की पदयात्रा करना।
22. मुख्यमुनि पद का सृजन करना।
23. साध्वीवर्या पद का सृजन करना।
24. संवत्सरी-एकता हेतु श्रमणसंघ के साथ 25 वर्षों का एग्रीमेन्ट करना।

25. महाप्रज्ञ श्रुताराधना पाठ्यक्रम प्रारंभ करना।
26. सुमंगल साधना का उपक्रम प्रारंभ करना।
27. शनिवार को सायं 7 से 8 बजे के मध्य सामायिक का उपक्रम प्रारंभ करना।
28. एक करोड़ से अधिक लोगों द्वारा नशामुक्ति का संकल्प स्वीकार करना।
29. नेपाल सरकार द्वारा अहिंसा यात्रा पर डाकटिकट जारी करना।
30. दिल्ली में बौद्ध धर्मगुरु दलाईलामा द्वारा आयोजित विभिन्न धर्मों के 100 से अधिक धर्मगुरुओं के सम्मेलन के उद्घाटन में जैनधर्म की ओर से आचार्यप्रवर का मंचासीन रहना एवं उनका उद्बोधन होना।
31. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का अमृत महोत्सव मनाना।
32. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी को शासनमाता के सम्मान से सम्मानित करना।
33. एक दिन में लगभग 47 किमी. का विहार करना।

पुस्तक के सभी पाठों से संबंधित प्रश्नों के अभ्यास के लिए स्केन करें–

Sambodhi E-Library